"मातृ-शक्ति का वैदिक स्वरूप"



लेखक—

श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ

(स्वामी प्रेमभिक्षु)

"मातृ-शक्ति का वैदिक स्वरूप"

—∞∞—

लेखक—

श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ

(स्वामी प्रेमभिक्षु)

—•—

प्राप्ति स्थान

श्री रामलाल मल्लिक

५/६० कनाट सरकस, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण } ज्येष्ठ २००६ { मूल्य
१००० } जून १६४६ { १=)

प्रकाशक:—
संघम
पब्लिशर्ज़ लिमिटेड
नई दिल्ली

लेखक की अन्य रचनाएँ

(१) गायत्री महत्त्व।
(२) वैदिक लोरियां, अथवा वैदिक मनोविज्ञान।
(३) मनुष्य के कर्त्तव्य।
(४) प्रेम का मार्ग।
(५) महान के दर्शन।

मुद्रक:—
श्री तिलोकचंद जैन
मैनेजर इन्द्रप्रस्थ प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली

" प्रारम्भिक वक्तव्य "

सृष्टि का उन्नत या अवन्नत, अच्छा या बुरा होना, सुख या दुख की वृद्धि, स्वयं मनुष्य पर निर्भर है। जैसा मनुष्य होता है, वैसा ही सृष्टि संसार राष्ट्र, अथवा परिवार होता है। किन्तु जहां सृष्टि का निर्माता जगदीश्वर है, उस जगन्नमाता से नीचे उतर कर, सृष्टि निर्माण में सौसारिक मातृ—शक्ति की बुद्धि है।

गीता का निम्न श्लोक इस विषय का अनुमोदन, करताहै।

युक्ताहार विहारस्य युक्त–चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त–स्वप्नवबोधस्य योगो भवति दुःखह ॥

प्रत्येक प्रकार का सुख, स्वस्थता, सबलता, योग, अर्थात मेल में हैं और उसकी चिकित्सा ऊपर के श्लोक में दी गई है -जो बास्तव में मातृ शक्ति के आधीन है।

"युक्त आहार-अर्थात प्राकृत, natural, simple, शरीर, मन बुद्धि को सात्विक पवित्र भाव उपजाने वाला भोजन।"

"युक्त विहार"—गति movements शरीर के अंगों आदि का ठीक संचालन, उपयोग आदि।

"युक्त चेष्टस्य कर्मसु"--भले उत्तम, परिवार, तथा जाति को ंचा उठाने वाले परोपकार आदि नित्य कर्मों में रुचि का होना।

युक्त स्वप्न बोधस्य--समय पर, जितनी शरीर, रक्षा के लिए आवश्यकता है, उतना ही सोने, जागने का अभ्यास डालना। समय को मूल्यबान समझने की शिक्षा।

उपरोक्त शिक्षाओं का, अभ्यास, और कर्म में प्रवृत करवा देना–विशेषतया मूलनरूप से माता के ही आधीन हैं, संसार में जितने उत्तम और महान्-पुरुष हुए हैं, उनकी उन्नति में, माताओं की शिक्षा एंव प्रेरणा ही ने काम किया है।

यह अमर ही है, और मेरी तो धारणा है जिसका आधार स्वयं मेरे अनुभव हैं कि मातृ-शक्ति के सुधरने, उसे पहचानने, से ही, भारतवर्ष, प्रयितु सम्पूर्ण संसार का कल्याण होगा।

अतः भारतवर्ष के मूल साहित्य, वेद आदि शास्त्रों के आधार पर, इस छोटी सी, पुस्तक में मातृ शक्ति का स्वरूप या कर्त्तव्य कर्म देने का प्रयत्न किया है। ताकि माताओं को ज्ञात हो, उनकी शक्तियां क्या है, और उनको किस प्रकार सुचारु करके, वह पूर्ववत, संसार का उत्तम निर्माण कर सकती हैं।

नई दिल्ली
५-६-४६

प्रेम भिक्षु

———

विषय सूचि

———



मातृ-शक्ति का वैदिक स्वरूप

माता का महत्व

हमारे प्यारे भारतवर्ष का अमर इतिहास महाभारत सभी प्रकार के व्यावहारिक धर्मों के प्रस्फुट वर्णनों से भरपूर है। भगवान् व्यास की उसी अमर कृति के ये श्लोक हैं :—

यथा पितरौ तथा पुत्रा यथा सङ्गस्तथा फलम् ।
यथा ज्ञानं तथा मुक्तिर्यथा चान्नं मनस्तथा ।।
यथाऽपथ्यं तथा व्याधिर्यथा पथ्यं तथाऽरुजम् ।
यथा शिक्षा तथा बुद्धिर्यथा राजा तथा प्रजाः ।।

इन श्लोकों का भावार्थ यह है माता-पिता के अनुरूप सन्तानें होती हैं। जैसी सङ्गति होती है, वैसा ही फल होता है। ज्ञान के अनुरूप ही मोक्ष होता है। जिस प्रकार का आहार है, उसी प्रकार का मन बनता है। आहार-विहार और आचार-विचार में जितना अपथ्य अर्थात् अनियम किया जाता है, बदपरहेज़ी की जाती है, उतनी ही मात्रा में शरीर पर रोग का आक्रमण होता है। जीवन में जितना संयम, नियम और निश्चित व्यवहार का पालन होता है, उतना ही स्वास्थ्य-लाभ

होता है। मनुष्य जैसी शिक्षा अपने आचार्यवर्य के पावन पादपङ्कजों में बैठकर प्राप्त करता है, उसी प्रकार का उसे बौद्धिक विकास प्राप्त होता है। राजा जिस तरह के आचार-व्यवहारों का, आहार-विहारों का और वेष भूषाओं का प्रयोग करता है, उसकी प्रजायें भी उसी तरह के आचार-व्यवहार आदि का प्रयोग करती हैं।

आगे जाकर महाभारत ने इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है :—

यानं वस्त्रमलङ्कारानन्भक्षणं चैव सर्वथा ।
प्रवर्तन्तथैवैते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

तात्पय यह है कि वाहन, वस्त्र, आभूषण, आहार आदि बातों में प्रजा सर्वथा राजा का ही अनुकरण करती है।

इन श्लोकों में कई अनुकरणों का चित्र खींचा गया है। उनमें सब से प्रथम चित्र है, माता-पिता और पुत्रों का। पुत्र नाम पांच-भौतिक, मांस-मज्जास्थियुक्त नश्वर शरीर का नहीं है, यह तो सारे ही विचार-शील मनुष्य जानते हैं। यद्यपि बिना इस स्थूल भौतिक शरीर के जन्म की कल्पना असम्भव है, फिर भी शिशु को शारीरिक दृष्टि से उत्पन्न कर देने मात्र से माता-पिता अपने कर्तव्य से मुक्त नहीं हो जाते। भौतिक शरीर धारण करने से पूर्व भी जीवात्मा सूक्ष्म शरीरधारी तो होता ही है। जब जीवात्मा अपने होने वाले पिता के वीर्य में प्रवेश करता है, तब वह उस पिता के आहार-विहार, आचार-विचार आदि के अच्छे या बुरे संस्कारों को अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा ग्रहण करता है। फिर वह माता के गर्भ में प्रवेश करता है, जहां कि वह नौ महीनों तक रहकर अपने भौतिक शरीर की

परिपूर्णता को प्राप्त करता है। इन नौं मासों में माता के प्रत्येक मानसिक, वाचिक और शारीरिक आचरण का गर्भस्थ जीवात्मा के सूक्ष्म और स्थूल शरीरों पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता रहता है। जब इस मौलिक सिद्धान्त पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें पता लग जाता है कि माता-पिता बनने की जिम्मेवारी कोई साधारण जिम्मेवारी नहीं है। पिता का वीर्य उसके भौतिक शरीर की शक्ति का निचोड़ है। वीर्य के परमाणु उतनी ही मात्रा में परिशुद्ध और ओजस्वी होते हैं, जितनी मात्रा में पिता अपने शरीर के बनाने वाले आहार की शुद्धि और बल पर ध्यान देता और तदनुसार आहार का ही सेवन करता है। दूषित-आहार-भोजी का वीर्य भी दूषित ही होता है और उस दूषित वीर्य से बनने वाले शिशु-शरीर का दूषित होना तो अनिवार्य ही है। इसलिए पिता बनने के इच्छुक मनुष्य को हमेशा अपने आहार की शुद्धि पर ध्यान देना चाहिये। जैसे कि ऊपर हम निर्देश कर चुके हैं, शिशु के सूक्ष्म शरीर पर पिता के आचारों और विचारों का असर पड़ता है। इसलिये पिता का कर्तव्य है कि न केवल पुत्र के जन्म के पश्चात् प्रत्युत गर्भाधान करने से पूर्व भी, अथवा यों कहिये कि सदा ही अपने जीवन को सभी दृष्टियों से पवित्र और समुन्नत बनाये रखे, जिससे सन्तान पर अमिट और मधुर प्रभाव पड़े।

पिता का उत्तरदातृत्व निस्सन्देह महान् है। परन्तु माता की जवाबदेही इस से हजारों, लाखों गुना अधिक है। पिता का आचरण शिशु पर जितना असर डालता है, उस से कहीं अधिक प्रभाव माता के आचरण से पड़ता है। पिता वीर्य शिशु-शरीर के उत्पादन का प्रारम्भिक कारण है तो माता के आर्तव और

मातृभुक्त अन्न उस शरीर के बनाने के प्रबल कारण हैं। शुक्रार्तव संयोग से शिशु-शरीर का बनना आरम्भ होता है और मातृगर्भ में रह कर वहीं बढ़ता जाता है। बढ़ने की यह क्रिया नौ महीनों तक चलती रहती है और माता का खाया हुआ अन्न ही उस शिशु-शरीर की पुष्टि और वृद्धि का साधन है। इसका मतलब यह होता है कि माता के आहार-व्यवहार का सीधा सम्बन्ध शिशु से है। इसलिए माता को भी अपने आहार और आचार की शुद्धि का निरन्तर ध्यान होना चाहिये। जैसे कि ऊपर कहा गया है, बच्चे के सूक्ष्म शरीर पर, गर्भवास के नौ महीनों में माता के हरेक मानसिक, वाचिक और शारीरिक आचरण का प्रभाव पड़ता है। इसलिये माता को भी अपने आचार की शुद्धि का ध्यान गर्भ धारण से पहले और पश्चात् भी रखना चाहिये।

इन्हीं सब बातों को मानस चक्षुओं के सामने रखकर महाभारतकार ने "यथा पितरौ तथा पुत्राः" कहा हुआ है, जो कि एक वैज्ञानिक सत्य है। हमने अब तक जो कहा, वह सब शिशु के जन्म से पूर्व की अवस्था से सम्बन्ध रखने वाला है। जब बच्चा माता के गर्भ से बाहर निकल कर अपनी ही सांस लेने लगता है, उसी समय से उसके पृथक-जीवन का प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि पिता भी परोक्षरूप से उस बच्चे की वृद्धि का साधन पेश करता है, फिर भी नवजात शिशु का चौबीसों घण्टों का सीधा सम्बन्ध तो माता से ही होता है। माता का दूध पीकर ही वह बढ़ता है और माता के आचरण का प्रभाव भी बच्चे की आत्मा पर पड़ता है। बच्चे की प्रथम गुरु तो माता ही है। इसीलिए आङ्गल भाषा में एक प्रसिद्ध कहावत है—The Hand that rocks the craddle Rules the world. इस वाक्य

का यह आशय है कि जो हाथ पालने को झुलाता है, वह दुनियां पर शासन करता है। अर्थात् बच्चों को शिक्षा देकर माता ऐसे शूरवीर विश्ववन्द्य पुत्रों को तैयार कर देती है, पालने में अपने प्यारे शिशुओं को हिला-डुला कर, खिला सुला कर उन में ऐसी शक्ति भर देती है कि वे सारे संसार पर अधिकार करने योग्य बन जाते हैं।

मनुष्यकृत वस्तुओं को उत्तम और उपादेय बनाने के लिए जहां उत्तम और उपयोगी साधनों की आवश्यकता है, वहां तत्वदर्शी, अनुभवी और कुशल कार्यकर्ताओं की भी ज़रूरत है। कायकर्ता यदि अनभिज्ञ है तत्ववेत्ता नहीं है, तो उत्तम से उत्तम साधन या Material भी उत्तम वांछित फल ला नहीं सकते। हज़ार यत्न करने पर भी नालायक कारीगर उत्तम से उत्तम साधनों की उपस्थिति में भी उत्तम परिणाम पैदा नहीं कर सकता; बल्कि उसके सारे प्रयत्न, परिश्रम, उस कार्य पर लगाया हुआ समय और शक्ति, सुख और प्रसन्नता के स्थान पर शोक और पश्चात्ताप को पैदा करने वाले होते हैं। इसी प्रकार, बच्चे सजीव Material होते हैं। उनके अन्दर अद्भुत शक्तियां अप्रकट रूप से निहित हैं। शिक्षा ही वह साधन है, जिसके सहारे उन अव्यक्त शक्तियों को अभिव्यक्त किया जाता है, या यों कहिये कि बच्चे के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण किया जाता है। जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार का व्यक्तित्व बनता है शिक्षा तो उसे देने वाले शिक्षक पर निर्भर है। अगर शिक्षक उत्तम कोटि का आचारवान् विद्वान् है, तो उसकी दी जाने वाली शिक्षा भी निस्सन्देह उत्तम कोटि की होती है, जिस से शिक्षित का व्यक्तित्व भी उत्तम कोटि का ही होगा। क्योंकि

माता और पिता ही बच्चे के शैशव के गुरु हैं, इसलिये उनका उत्तम होना परम-आवश्यक है।

गृहस्थ आश्रम एक संकुचित, किन्तु बहुत ही महत्वपूर्ण राज्य है। जिस पर माता और पिता का शासन एवं अधिकार है। सन्तानें ही इस संक्षिप्त राज्य की प्रजायें हैं। उन सन्तानरूपी प्रजाओं को सुयोग्य पुत्र कहलाने के अतिरिक्त, किसी महान् आचार्य के योग्य शिष्य और किसी प्राप्त यश। सम्राट् की योग्यतावती प्रजा कहलाते हुए, अन्ततोगत्वा सृष्टिकर्ता जगदीश्वर महाराजाधिराज की सत्प्रजा का वर्चस्वी पद प्राप्त करना है। परमकरुणामयी जगदम्बा के इस सृष्टिरूपी सुन्दर उद्यान की शोभा बढ़ानी है। बच्चों की इस महती किन्तु अव्यक्त शक्ति का निर्देश करने वाली यह कहावत मशहूर ही है :—

"Child of To-day is the Mother or father or the governor of To-morrow." अर्थात् आज का शिशु ही कल की माता है, कल का पिता या शासक है।

माता-पिताओं की महत्ता का ज्ञान दूसरे प्रकार से भी उपलब्ध किया जा सकता है। विद्युत् तो सर्वत्र विद्यमान् है। लेकिन समुचित साधनों के सहारे जब तक उसको व्यक्त या प्रकट होने की, अथवा विकास प्राप्त करने की सुविधा न हो, तब तक न उसका तेज ही देखा जाता है; न उससे कुछ लाभ ही उठाया जा सकता है। इसी तरह, प्रत्येक जीवात्मा में ज्ञान तो अप्रकट रूप में होता ही है। न्याय दर्शनकार भगवान् गौतम महर्षि ने आत्मा की परिभाषा करते हुए बताया है:-

इच्छाद्वेष प्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख जीवात्मा के अस्तित्व

के द्योतक लक्षण माने गये हैं, वहां ज्ञान भी उसका एक लिङ्ग माना गया है। वास्तव में उसी तत्व में प्रथम वर्णित पांच लक्षणों का पूरी तरह घटना सम्भव है, जिसमें ज्ञान अर्थात् चेतनता का द्योतक जानना है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा की जानने की शक्ति भी उतनी ही अनादि है, जितना जीवात्मा स्वयं है। जीवात्मा का यह अनादि ज्ञान उसका स्वाभाविक गुण है। यह हमेशा उसके साथ अव्यक्त रूप में होता है। इस अव्यक्त अनादि ज्ञान को स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं। यही वह बुनियाद है, जिस पर मनुष्य उन्नति के भव्य भवन का निर्माण करता है। लेकिन इस उन्नति-भवन के निर्माण के लिये अन्य साधनों की नितान्त आवश्यकता होती है। सर्वतोमुखी समुन्नति के सुन्दर एवं प्रचुर प्रासाद के अद्भुत निर्माण के मनोज्ञ कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिये नैमित्तिक ज्ञान रूपी ईंटों इष्टकाओं की अनिवार्य आवश्यकता है। इस नैमित्तिक ज्ञान के दाता माता, पिता और आचार्य होते हैं। नैमित्तिक ज्ञान के बिना जीवात्मा की प्रस्तुत और आन्तर शक्तियों का उद्भासन ही नहीं हो पाता। अतः नैमित्तिक ज्ञान, जिसका दूसरा नाम शिक्षा है, जीवात्मा की अव्यक्त शक्तियों का स्फुटीकरण करने का अनिवार्य साधन होता है। नैमित्तिक ज्ञान विहीन मनुष्य तो पशु तुल्य ही होता है, क्योंकि, उसकी प्रसुप्त शक्तियां जब तक शिक्षा द्वारा बहिर्मुख होकर जागती नहीं हैं, उसका बौद्धिक वा मानसिक विकास नहीं होता। फिर तो किसी कवि का यह श्लोक ऐसे अप्रबुद्ध वा अविकसितमना मनुष्य के बारे में चरितार्थ ही हो जाता है:—

आहारनिद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः ॥

खाना-पीना सोना, डरना, स्त्रीसङ्ग करना ये क्रियायें तो पशु भी करते हैं और मनुष्य भी । मनुष्यों में यदि कोई विशेषता है तो केवल नैमित्तिक ज्ञान ही है । जिस अभागे मनुष्य को नर-शरीर पाने पर भी नैमित्तिक ज्ञान उपलब्ध नहीं हुआ, वह निरा जानवर ही ठहरा ।

तो नैमित्तिक ज्ञान का इतना महत्व है । पशु को मनु[ष्य] और मनुष्य को देव बनाने वाला अद्भुत साधन यही नैमित्तिक ज्ञान या शिक्षा है । इस अनमोल साधन से सम्पन्न आदरणीय व्यक्ति माता-पिता और आचार्य होते हैं । जिस प्रकार की शिक्षा देने की शक्ति उनमें होती है, उसी प्रकार की शक्ति बच्चों में प्रकट होती है । इससे यह जाना जा सकता है कि माता-पिता और आचार्य के शिक्षा प्रदान कार्य में चतुर होने की कितनी आवश्यकता है ।

वैसे तो माता-पिता और आचार्य तीनों का ही बड़ा महत्व है । इनमें भी, शास्त्रों का कथन है कि माता का जो स्थान है, वह अनुपम ही है । माता अपने खून को निचोड़ कर न केवल शिशु को जन्म ही देती है, बल्कि अपने मीठे दूध से सींच कर शिशु के अविकसित जीवन की कली को खिला देती है । मधुर मधुर थपकियों और मञ्जुल लोरियों से अपने प्यारे बच्चे के दिल और दिमाग में ममता और जीवन की सुधा का स्रोत खोल देती है । अपने सुखों और लालसाओं का बलिदान देकर, बच्चे को मनुष्य बना देती है । बच्चे के

जीवन के लिये अपने जीवन की निर्मम बलि चढ़ाने को हर दम तैयार रहती हुई, प्रति क्षण और प्रत्येक अवसर पर, कह कर नहीं किन्तु करके दिखाती हुई मनुष्यता की शिक्षा देती है। ममतामयी माता के निष्कलमष और निःस्वार्थ प्रेम से परिलुप्त हृदय में बच्चे के कल्याण और उन्नति के बारे में जो गहरी और मीठी भावनायें होती हैं, वे शायद ही और किसी के हृदय में होती हों। इस लिये बच्चे की प्रथम और बुनियादी गुरु तो माता ही है। परमात्मा की सृष्टि में यह भी एक अद्भुत कौशल है कि माता और शिशु में एक अवर्णनीय पारस्परिक आकर्षण स्वाभाविक तौर पर होता है। हलकी २ थपकियां दे देकर और मीठी २ लोरियां गा गा कर बच्चे को सुलाती हुई, मञ्जुल प्रेम रागालाप के साथ दुग्धपान कराती हुई, रोते को हँसाती हुई और हँसते के साथ खेलती हुई, तुतला कर बोलने वाले शिशु की जिह्वा पर वाणी का कौशल भरी वीणा के मधुर राग की स्थापना करती हुई माता जो शिक्षा देती है, उसका शिशु की आत्मा पर अमिट असर रह जाता है। इस लिये माता का शिक्षिता और सदाचारिणी होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस कारीगर के दिमाग में किसी भी चित्र की कल्पना ही नहीं है, उसके सामने उत्तमोत्तम सामग्रियों को उपस्थित करने से भी कोई लाभ नहीं होता। बल्कि सम्भावना तो इसी बात की होती है कि वह उन अच्छी सामग्रियों, अपने प्रयत्नों, समय और शक्ति का दुर्व्यय ही करके अपनी और पराये की हानि करेगा। ठीक इसी प्रकार, जिस माता के कंधों पर सबसे पहले बच्चे के न केवल पालन पोषण का, बल्कि शिक्षा-दीक्षा और चरित्र निर्माण का गुरु

भार स्वाभाविक तौर पर पड़ता है, यदि वह अनपढ़ और असंस्कृत रहे तो, उत्तम से उत्तम अव्यक्त शकित युक्त शिशु को पाकर भी कुछ भलाई न कर सकेगी और बच्चे के चरित्र-निर्माण में असमर्थ होने के कारण उसके बिगाड़ का ही कारण बनेगी। और बिगड़े हुए बच्चे न केवल अपने माता-पिता और भाई-बहनों के लिये ही अभिशाप रूप होते हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण समाज और समूचे राष्ट्र के लिये घातक सिद्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि माता, जिसके पास बच्चा पांच या छ: वर्ष का बालक बनने तक रहता और प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करता है, एक अति ईर्ष्याजनक उन्नत स्थान तो रखती ही है, साथ २ एक दुर्वह उत्तरदातृत्व का गुरुभार भी सम्भालती है। इसी गौरव गरिमा को ध्यान में रख कर महात्मा मनु ने कहा है:—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

[मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक--१४५]

भावार्थ यह है कि आचार्य दस उपाध्यायों के तुल्य आदरणीय है। पिता सौ आचार्यों के समान समादरणीय है। और माता तो हज़ार पिताओं से भी अधिक गौरव की अधिकारिणी है। इसी लिये, सभी सभ्य जातियों में नारी जाति को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। सारी सभ्य जातियां मातृ-शक्ति को जगज्जननी विश्वाम्बा की लौकिक प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करती आयी हैं। हमारे प्राचीन तत्वदर्शी सत्यधर्मा ऋषिजन तो अपने प्रिय अन्तेवासियों का समावर्तन संस्कार करके उनको विदाई देने से पहले

जहाँ सत्य भाषण और धर्माचरण की शिक्षा देते, वहां यह भी आदेश दे देते :—

मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव।।

[तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली]

"हे सौम्य ! तेरी माता उपासनीय हो। तेरा पिता तेरे लिये पूजनीय हों। तेरा आचार्य आदरणीय हो।" पिता और आचार्य की महिमा से भी ज्यादा महिमा माता की है। भगवान् मनु ने भी कहा है:—

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्या हतानीव विनश्यन्ति समन्ततः।।

[मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ५८]

"नारियां अपमानित हो कर जिन गृहों पर लानत भेजती हैं, वे गृह अभिचार कर्मग्रस्तों की तरह सब तरह से और सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।" मनु भगवान् के इस वाक्य में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। स्त्रियां तो न केवल गृह-देवियां हैं, बल्कि गृहों में जीवन ज्योति के चिराग जलाने वाली जीती जागती शक्तियां हैं। परिवार का बनना और बिगड़ना नारियों के बनने और बिगड़ने पर निर्भर है। या यों कहना चाहिये कि अपनी महक और हंसी को गृहोद्यान के वायु-मण्डल में मीठी मादकता का और दैवी सुन्दरता का संमिश्रण करने वाला सब से सुन्दर और सुषम सुमन नारी ही है। अब तक यह नारी नामक सुन्दर सुमन खिल खिला कर हंस रहा है, तभी तक इस गृहोद्यान की शोभा है। ज्यों ही यह मुरझा गया, उद्यान का सारा आनन्द, सारी शोभा, सारी

सुगन्ध अतीत की केवल मधुर स्मृति मात्र हैं। इसी लिये महाराज मनु ने कहा है:--

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफ़लाः क्रियाः॥

(मनुस्मृति, अध्याय-३ श्लोक-५६)

"जहां नारियों का सम्मान होता है, वहीं सारे विद्वाने और विदुषियां प्रसन्न होती हैं। और जहां इनका सम्मान नहीं होता, वहां सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।" स्पष्ट है कि मातृ-शक्ति की महिमा अपरम्पार है। हमारे आर्य ऋषि मुनि तो स्त्री जाति को विशेष सम्माननीय समझते आये हैं। आर्य धर्म का नियम है कि सन्यासी केवल एक परमात्मा को छोड़ कर और किसी के आगे झुकता नहीं है; किसी का चरण छूकर प्रणाम नहीं करता। फिर यदि वह अपनी जन्म दात्री ममता मूर्ति माता के चरण स्पर्श करके प्रणाम करे तो शास्त्र उसे निषिद्ध नहीं समझते।

जैसे कि पहिले हमने निर्देश किया है, जहां सम्मान है, वहां उत्तरदायित्व भी है। माता केवल जन्म दात्री नहीं है। वह तो परिवार छात्री है, समाज विधात्री है और राष्ट निर्मात्री है, इस लिए माता की जिम्मेवारी दुर्वल है। उस जिम्मेवारी को निभाने के लिये, उस का शक्ति सम्पन्न होना भी आवश्यक है। जो दीपक स्वयं बुझ गया है, वह दूसरों को क्या प्रकाशित करेगा? जो आग स्वयं राख बन गयी है, वह मारे ठण्ड के ठिठुरते को क्या गरमी देगी? जो कुआ खुद सूख गया है वह दूसरों की प्यास क्या मिटायेगा? इसी तरह जो माता स्वयं अज्ञानग्रस्त, अविदुषी और अधार्मिक है वह अपने बच्चों का जीवन कैसे बनायेगी? इसी लिये हरेक माता को

सर्वसद्गुणों से विभूषित होना चाहिये । जिस माता के कंधों पर शिशु के चरित्र निर्माण का, परिवार के आनन्द प्रवहण का, समाज के संगठन का और राष्ट्र के उत्थान का गुरु भार पड़ा हो वह असमर्थ रहे, अज्ञानी रहे अविदुषी रहे, अन्ध-श्रद्धालु रहे, अधार्मिक रहे तो उस बच्चे के दुर्भाग्य को कौन रोवे ? उस परिवार की बदकिस्मती पर कौन आठ आठ आंसू बहावे ? उस समाज के अध:पतन को कौन रोके ? उस राष्ट्र के सत्यानाश हो जाने में क्या देर लगती है ? इसी कारण से विद्वान् कहा करते हैं कि यदि किसी देश या जाति की अवस्था को जानना है तो उसे देश या जाति की माताओं की अवस्था अर्थात् उनके जीवन, विचार तथा शक्ति को परख लो ! ठीक भी है। वन-वन में निर्भय होकर फिरने वाली कष्ट सहिष्णु वीर पत्नी कुन्ती माता ने जितने वैदिक शास्त्रों तथा श्रीराम जैसे वीर पुरुषों की जीवनियों का अध्ययन किया था, भारतवर्ष को धीर युधिष्ठिर, वीर भीम और पराक्रमी अर्जुन जैसे महापुरुषों को दिया था। योगिराज और कुशल योद्धा भगवान् श्रीकृष्ण के साथ बैठ कर महान् वीरों की आत्म कथाओं का श्रवण करने वाली पुण्यशालिनी सुभद्रा ने वीर अभिमन्यु जैसे शेर को जन्म देकर न केवल अपने कुल का नाम अमर कर दिया, बल्कि समूची आर्य जाति का मुख उज्ज्वल कर दिया। और आज कल की, उठते बैठते, सोते-जागते अपने बच्चों को जिन्न, शाकन, डाकन, आदि कल्पित भूत-प्रेतों की कहानियों को सुनाने वाली भारतीय नवयुवतियां बिल्ली और कीड़ों से भी डरने वाले अजीब पुत्रों को जन्म दे रही हैं।

इस लिये, माता के सामने उच्च आदर्श रहने चाहियें ।

माता का जीवन सरल, धार्मिक और स्वयं आदर्श-रूप होना चाहिये। माता को विदुषी एवं विद्यानुरूप आचारवती बनना चाहिये। अज्ञान, कुविचार, कदाचार आदि दुष्ट गुणों से मुक्त माता ही अपनी सन्तान को उत्तम बना सकती है—इस बात को हृदयकाङ्क्षित कर लेना, पचा लेना, प्रत्येक माता का सर्वप्रथम कर्तव्य, है। भला, जिसके ऊपर व्यक्ति; परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्थान निर्भर है, वह असावधान रहे, अज्ञान और मोह की नींद सोती रहे, निर्बल और बीमार रहे, यह कैसे हो सकता है? माताओ! उठो इस उपनिषदादेश को सुनोः—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पयस्तत्कवयो वदन्ति ॥

"उठो, जागो! कवि लोग, ज्ञानी और तत्वदर्शी महानुभाव कहते हैं कि मानव जाति के उत्थान का यह मार्ग तलवार की धार के समान तेज और दुर्गम है। श्रेष्ठ महात्माओं और उत्तम विद्या को पाकर अपने अधिकारों और जिम्मेवारियों का ज्ञान प्राप्त कर लो।"



माता की दिनचर्या

जब यह सिद्ध हो गया कि बच्चों के जीवन-निर्माण में माता का ही प्रथम हाथ है और माता ही बच्चों की आदिम गुरु है, तो अब माता के दैनिक कर्तव्यों की मीमांसा करनी चाहिये। शिक्षा का सर्वोत्तम स्वरूप यही है कि वहां कथनी की अपेक्षा करनी की महत्ता होती है। कथन तो दूसरा स्थान रखता है। गुरु जो करता है, उसका असर शिष्य पर बहुत आसानी से पड़ता है; लेकिन गुरु जो कहता है, वह तो सुनने में ही आता है, शिष्य उसे आसानी से पचा नहीं सकता। गुरु के आचरण में और उपदेश में अंतर हो और दोनों में परस्पर प्रतिकूलता हो, तो शिष्य ऐसे गुरु से कोई फायदा नहीं उठ सकता। शिक्षा का वाचिक अंग गौण है। जब तक उसका समर्थन शिक्षा का आचार-अंग नहीं करता, उसका प्रभाव शिष्य पर पड़ना असम्भव है। स्पष्टीकरणार्थ एक उदाहरण लेंगे। कल्पना करो कि कोई गुरु अपने शिष्य को उपदेश द्वारा यह समझाता है कि मदिरा सेवन न करो। यह तो शिक्षा का वाचिक अंग हुआ। शिष्य इसे सुनता है, सोचता है और देखता है कि गुरु के जीवन में कहीं मदिरा देवी का मोहन स्पर्श तो नहीं है। यदि वह गुरु को शुद्ध पाता है और यह देखता है कि गुरु मदिराव्यसनी नहीं है, तब शिक्षा का आचार अंग भी वाचिक अंग का साथ देता हुआ, शिष्य के हृदय पर अमिट प्रभाव अङ्कित कर जाता है. इसके स्थान में यदि वह शिष्य यह देखता है कि गुरु महाराज सुन्दर और

सरल शब्द समूहों से सुसज्जित भाषण तो मदिरा पान के विरुद्ध वितरित करते हैं, पर स्वयं मदिरा के नशे में चूर झूमते हैं तो शिष्य अवश्य इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि इन तिलों में तेल नहीं है। गुरु महाराज का आचरण, उनके उपदेश के अनुकूल नहीं है। इस लिये, इनका शिष्यत्व भी लाभदायक नहीं है। फिर उस शिष्य में गुरु-शक्ति के लिये क्या स्थान रह जाता है, यह भी सोचने की बात है!

कई शिक्षा शास्त्रज्ञ शिक्षा के कई प्रकार के लक्षण बताते हैं। विद्वानों ने शिक्षा की भिन्न २ परिभाषायें की हैं। परन्तु हम समझते हैं कि धार्मिक आचार का सज्ञान विस्तार ही शिक्षा है। हमारे शास्त्र गुरु को आचार्य कहते हैं। आचार्य इसलिए आचार्य कहलाता है कि वह अपने शिष्य में आचार का विस्तार करता है। आचार वह अद्भुत वस्तु है जो धर्म का उत्पादन करता है। मनु महाराज ने 'आचार प्रभवो धर्मः' और 'आचारः परमो धर्मः' कहा है, जिसका अर्थ होता है धर्म आचार से पैदा होता है और आचार ही परम धर्म है। सद्व्यवहार या सच्चरित्र को ही आचार कहते हैं। यह सच्चरित्र ही धर्म है, जो कि सच्चे आचार्य की आत्मा में रहता है और उसके जीवन में प्रकट होता है। आचार्य इसी स्वान्तः स्थित आचार का अपने शिष्य की आत्मा में विस्तार कर देता है। इसी आचार-विस्तार की क्रिया का नाम शिक्षा है।

जब शिक्षा का यह स्वरूप हृदयांकित हो जाता है तो हम शिक्षक की योग्यता का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। आचार विहीन तो आचार्य बन ही नहीं सकता। तो माता, जो कि बच्चे की प्रथम शिक्षिका है, अगर आचार्यवती नहीं है, तो

बच्चे का सुधार नहीं कर सकती। इसी लिये प्रत्येक माता को अपने चालचलन का बहुत ख्याल रखना पड़ता है।

आचार का सबसे बड़ा शत्रु आलस है। आलसी तो खुद अपना उद्धार नहीं कर सकता, फिर वह दूसरों का क्या उद्धार करेगा? आलसी सब सद्गुणों से हाथ धो बैठता है और दूसरों के लिये भारस्वरूप बन जाता है। उसका खाया हुआ अन्न, अन्न के रूप में नहीं, मौत बन कर उसके शरीर में जाता है। ऐसे ही आलसी अप्रचेता का निर्देश कर के वेद भगवान् कहते हैं:—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥
(ऋग्वेद, मण्डल-१०, सूक्त-११७, मन्त्र-६)

"अप्रचेता अर्थात् चैतन्यहीन जडवत् आलसी वृथा अन्न खाता है। सत्य बोलता हूँ, वह जो खाता है वह अन्न नहीं है, किन्तु मृत्यु ही उसके अन्दर प्रवेश करती है या जो आलसी अन्न खाता है, वह अन्न का भक्षण नहीं करता है, उसका वध करता है। क्योंकि उसका खाया हुआ अन्न शक्तिरूप बन कर न न्याय विधान का पोषण करता है, न मित्रों को बलप्रदान करता है। इसलिये जो केवल खाता ही है, और कुछ नहीं करता, वह केवल पापी है।" इससे अधिक आलस का खण्डन और कौन कर सकता है? आलसी की और कौन सहायता करे, स्वयं परमात्मा भी आलसी की सहायता नहीं करता। अंग्रेजी में कहावत भी है—"Self-Help is the Best help" अर्थात् आत्म-सहायता ही सर्वोत्तम सहायता है। वेद भगवान अन्यत्र सन्देश देते हैं:—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रसादं अतन्द्राः ॥

(ऋग्वेद-मण्डल-८, सूक्त-२ मन्त्र-१८)

अर्थात् "विद्वान् महात्मा जन विवेचनशील को चाहते हैं। सोने वाले आलसी को नहीं चाहते। क्योंकि वे स्वयं जाग्रत होकर आलस को कुचलते रहते हैं।" आलस ही उन्नतिशील मनुष्य का प्रबलतम शत्रु है। कहा भी है:--

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।

आलस ही मनुष्यों का शरीर में रहने वाला प्रबलतम शत्रु है। यह तो ठीक ही कहा है। क्योंकि, जिसके शरीर में आलस ने प्रवेश किया, वह तो किसी भी अच्छे काम में मन नहीं लगायेगा, निठल्ला पड़ा रहेगा। यह तो आलस की प्रथम सीढ़ी है। इसी सीढ़ी में, आलसी के दिमाग़ में तरह तरह की आसुरी भावनायें प्रवेश करना शुरू कर देती हैं, अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत ही है-'Empty Brain is Devils workshop.' सुस्त दिमाग तो पैशाच भावनाओं का कारखाना है। अब आलस की दूसरी सीढ़ी शुरू हो जाती है निठल्ला बैठने वाला आलसी पतन की ओर अग्रसर होता है। जिस दिमाग में ईश्वर-भक्ति, वेद-ज्ञान, धर्म-श्रद्धा, सदाचार आदि सद्गुणों का सिंहासन रखना चाहिये था, वहां आलसराज की गद्दी जम गयी। दुर्व्यसन, दुश्चिन्तन, दुराचार आदि आलस के दरबारी भी दिमाग में जम गये तो मनुष्य के गिरते क्या देर लगती है? इन्द्रियें तो वैसे ही प्रबल हैं। उनके बारे में योगिराज श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं:--

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।
(गीता, अध्याय-२, श्लोक-६०)

"हे अर्जुन ! इन को वश में रखने का यत्न करने वाले विद्वान् पुरुष की इन्द्रियें भी मथन करने वाली होकर मन को झट से हर लेती है।" इसी प्रकार इन्द्रियों की प्रबलता का वर्णन करते हुए भगवान् मनु भी कहते हैं:—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।।
[मनुस्मृति, अध्याय-२ श्लोक २१५]

"चाहे माता हो, भगिनी हो या पुत्री, उसके साथ एकान्त में बैठना नहीं चाहिये। क्योंकि, इन्द्रियों का समूह इतना प्रबल है कि विद्वान् को भी खींच लेता है।" जब यत्नशील विद्वानों को ही ये इन्द्रियां हर लेती हैं, ठग लेती हैं, और चकमा दे जाती हैं तो उस अभागे आलसी के बारे में कहना ही क्या है, जिस के मन में बुरी भावनायें प्रवेश कर चुकी हों। आलसी खाता-पीता तो है ही। वह खाया हुआ अन्न खून बन कर उसकी धमनियों में दौड़ता भी है। फिर इन्द्रियें काम करने लग जाती हैं, जिनका साथ उस आलसी के मन में प्रविष्ट दुष्ट भावनायें, बराबर देती रहती है। फिर कहना ही क्या है? मदिरा पान, मांस भक्षण, वेश्यागमन, द्वेष, ईर्ष्या, चोरी, कलह, परहिंसा आदि सारी दुर्वृत्तियां आलसी में घर कर जाती हैं। फिर सद्गुणों से घृणा भी उत्पन्न हो जाती है। व्यर्थ में समाज का अन्न खाकर और समाज में दुराचार का ज़हर फैला कर

वह आलसी समाज की हानि तो करता है, साथ २ इन्द्रियों का दास बन कर अपना भी नाश कर लेता है श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा भी है:--

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
[गीता, अध्याय-६ श्लोक-७]

'मानव को जानना चाहिये कि वह आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है। इसलिये उसको चाहिये कि वह अपना उद्धार करे और कभी अपने को न गिराये, पतन की ओर न जाये।" आगे जाकर श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिसने अपने आप को जीत लिया, उसका तो वह स्वयं बन्धु है और जिसने अपने ऊपर अधिकार नहीं किया, जो खुद इन्द्रियों का दास बन गया, वह खुद अपना शत्रु है। इसी भाव को दृढ करते हुए योगीश्वर श्री कृष्ण ने अन्यत्र कहा है:--

नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनाऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
[गीता, अध्याय ५, श्लोक १७]

"सर्व व्यापक परमात्मा न किसी का पाप ग्रहण करता है, न पुण्य। मनुष्यों का ज्ञान अज्ञान से घिर जाता है, इस कारण से जीवात्मा मुग्ध हो जाते हैं।" इन वाक्यों से स्पष्ट है कि जीवात्मा स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है और स्वयं ही अपने भविष्य का नाशक। अन्त: साक्षी प्रभु भी आलसी का सहायक नहीं होता। इस लिये आलस से मुक्त होना और अपने उद्धार के मार्ग को निष्कण्टक बनाना प्रत्येक मनुष्य का मुख्य कर्तव्य

है। फिर माता का तो यह अनिवार्य कर्तव्य ही है कि वह अपनी आत्मा के उद्धार के साथ २ अपने बच्चों के सामने भी नियमित जीवन का उच्च क्रियात्मक आदर्श स्थापित करे।

इस लिए प्रत्येक माता को और मातृत्व की इच्छुक नारी को चाहिये कि प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर, परिशुद्ध, प्रबल और उत्कृष्ट भावना से अपनी दिनचर्या को प्रारम्भ करे। ब्राह्म-मुहूर्त की स्निग्ध, सुन्दर मन्द पवन में एक प्रकार की स्फूर्ति घुली होती है, जिसके सेवन से नीरोगता और शारीरिक बल के साथ २ मन और आत्मा में एक अलौकिक आनन्दमय स्फूर्ति समा जाती है। यह स्फूर्ति, माता को उसकी दिनचर्या को सफलता पूर्वक निभाने में मदद देती है। गहरी नींद सो कर उठी हुई होने से माता की पूर्व दिन की शारीरिक थकावट मिट गयी होती है, जिससे फिर से कार्य आरम्भ करने का उस में उत्साह भरा रहता है। ब्राह्ममुहूर्त का नीरव आकाश, अपनी मौनवाणी से दैवी शान्ति का अमर सन्देश देता रहता है। इस ब्राह्म मुहूर्त, शरीर, मन और आत्मा में शक्ति और शान्ति का समावेश कर देता है, जिससे माता बड़ी शान से अपनी उन्नति पथ पर अग्रसर हो सकती है। वेद भगवान् ने प्रातःकाल की महिमा इन शब्दों में वर्णित की है:—

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या निधत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः॥

[ऋग्वेद, मं-१. सूक्त १२७. मन्त्र १.]

इसका भावार्थ यह है कि जो भद्रपुरुष प्रातःकाल में याने ब्रह्म मुहूर्त में उठता है, वह उस मङ्गल प्रभातवेला में रमणीय

अर्थात् प्राप्त करने योग्य तत्त्व को--नीरोगता आदि को—धारण करता है। वह उस तत्व को सदैव अपने उपयोग में लाता है। उस से वह अपनी आयु को बढ़ाता हुआ, धन और पुष्टि से युक्त होकर आनन्द पाता है। वेद स्पष्ट तौर पर कह रहा है कि प्रातःकाल उठने से रमणीय आरोग्य-रत्न की उपलब्धि होती और आयु बढ़ती है। नीरोग पुरुष आयुष्मान् होकर धन और बल का भी स्वामी हो जाता है और भी स्पष्ट शब्दों में नीचे लिखे मन्त्र में प्रातःकाल की महिमा वर्णित है :--

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति ।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वा मुक्षीजयेव यदिमित्सुनाति ॥

[ऋग्वेद, मं-१. सूक्त-१२७. मन्त्र-१.]

अर्थात् "हे प्रातःकाल शीघ्र उठकर सत्कार्यों में लग जाने वाले मनुष्य ! जो भी ऐश्वर्य और शोभा से चमकने वाले तुझ से दृढ़ता के साथ सम्बन्ध कर लेता है, उसको अच्छी २ गौवें, सोना, अच्छे २ घोड़े, लम्बी आयु आदि मिल जाते हैं और वह ऐश्वर्यवान् हो जाता है।"

इस मन्त्र द्वारा परमपिता परमात्मा ने दो बातें बतायी हैं। एक तो यह कि जो ब्राह्म मुहूर्त में जागने वाला होता है, वह स्वयं भी ऐश्वर्यवान् होता है। दूसरे यह कि जो ऐसे पुरुष से सम्पर्क रखता है, वह भी उद्यमशील बनकर मालामाल हो जाता है। इसलिये, माता, जो कि बच्चों की मार्गदर्शिनी गुरु है, का कर्तव्य है कि वह हमेशा निरालस्य होकर स्वयं उत्तम स्वास्थ्य, लम्बी आयु, श्रेष्ठ सम्पत्ति आदि प्राप्त करती हुई, अपने बच्चों के

सामने भी उन्नति का उत्तम आदर्श रखकर उनको सन्मार्ग पर जाने के लिये प्रेरित करे।

जैसे कि हम ने ऊपर ही कहा हुआ है, प्रातःकाल के वायु-मण्डल में कुछ ऐसे विशेष गुण होते हैं, जिनसे स्वास्थ्य, मन, बुद्धि और आत्मा पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। आर्यों का कहना है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्", अर्थात् शरीर ही धर्माचरण का प्रथम साधन है। अंग्रेज़ी में कहा जाता है—"Sound Mind in a sound Body." स्वस्थ शरीर में ही नीरोग मन रहता है। जिस का देह हज़ार बीमारियों का घर है, जो शरीर से बहुत ही कमज़ोर है, उस का मन प्रसन्न, शान्त और गम्भीरतापूर्वक सोचने-विचारने लायक नहीं रहता। जब मानसिक शक्ति ही कुण्ठित हो जाती है, वह शास्त्रों और सत्पुरुषों के सत्सङ्ग से भी लाभ नहीं उठा सकता। इसलिए अच्छे मन को प्राप्त करने के लिए शरीर को दृढ़ बनाना चाहिये। प्रातःकाल की हवा मन और आत्मा पर ताज़ापन लाती है। शरीर में भी नयी ताक़त पैदा करती है। इस कारण से ४-३० से लेकर सूर्योदय तक के समय को ब्राह्म मुहूर्त कहा गया है। इसका मतलब ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाला समय है। ब्रह्म कहते हैं परमात्मा, वेद और बड़े को। परमात्मा का ध्यान और उसके स्वरूप का चिन्तन, वेद और उनके अनुकूल शास्त्रों का अध्ययन और महत्वपूर्ण शुभसङ्कल्प करने के लिए वह समय बहुत प्रशस्त माना गया है। क्योंकि इस मङ्गलमय प्रभात वेला में दिल, दिमाग़ और देह तीनों में ताज़ापन रहता है, इसलिये प्रत्येक माता और माता बनने की इच्छुक नारी को चाहिये कि

उष:काल से किंचित्पूर्व ही बिछौने से उठ कर पवित्र भावना से अपनी दिनचर्या शुरू कर दे।

जागृत तथा सार्थक समय का नाम ही आयु है। अनावश्यक निद्रा मृत्यु समान ही है, इसलिए २ घण्टा भी प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में उठकर, किसी व्यक्ति का प्रतिदिन शुभ कार्य में लग जाने से, कितने ही वर्ष उसकी आयु की वृद्धि हो जाती है। इस अभ्यास के डालने से परिवार की आयु का लम्बा करना, माता के आधीन है। जिस पर कुछ व्यय नहीं होता, अपितु कार्य करने की शक्ति में वृद्धि होने से सब प्रकार का लाभ होता है।



कर्तव्य निर्वहण में नियम पालन

मनुष्य अधिकारों की रक्षा के लिये लड़ता है तो ठीक ही करता है, परन्तु हरेक को याद रखना चाहिये कि उन अधिकारों का तब तक कोई मूल्य नहीं, जब तक वह अपने कर्तव्यों को सुचारु रूप से नहीं निभाता। या यों कहना चाहिये कि अधिकारों का मूल्य कर्तव्यों का निभाना ही है। इसलिए, प्रत्येक नर और नारी को यह स्मरण रखना चाहिये कि पहले योग्य बनो, फिर मांगो। Deserve and Demand—यह एक सोने का नियम है। माताओं के सामने समय की पाबन्दी का भी एक सवाल है। प्रायः आजकल की नारियां, अपने पतिदेवों के चरण-चिह्नों पर चलती हुई, अपने कर्तव्यों के निभाने में समय का कोई महत्व न जान कर, व्यर्थ में समय को खराब कर देती हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि कर्तव्य पूर्ति के लिये उन्हें पर्याप्त समय नहीं मिलता। इसलिए प्रत्येक माता का चाहिये कि वह अपने कर्तव्यों का ब्योरेदार विवरण लिखकर किसी ऐसे स्थान पर उसे टांग दें, जहां कि हर क्षण वह उसे देख सके। नियमित समय पर नियमित कार्य को करने का अभ्यास सचमुच सफल जीवन का रहस्य है। जिसे अपने जीवन को सफल बनाने की सच्ची इच्छा है, उसको समय का पाबन्द ज़रूर बनना चाहिये। प्रभु ने काम करने के लिये दिन और सोने के लिये रात बनायी है। हम कुछ करें या न करें, समय बीतता चला जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिये कि अगर हमारा धन लुट गया तो हम उसे फिर कमा सकते हैं। हमारे शरीर की शक्ति

का ह्रास हुआ तो हम उसे पुनः पा सकते हैं। दुनियां का कोई ऐसा सौभाग्य नहीं है, जिसे खो कर हम फिर प्राप्त न कर सकते हों। परन्तु समय ही एक ऐसी चीज़ है, जो जाती है तो हमेशा के लिये चली जाती है, और फिर कभी किसी भी अवस्था में हमारे पास लौट कर नहीं आती। हरेक पल का, हरेक विपल का अपना ख़ास महत्व है। हम रात तो सोकर काटते ही हैं, दिन को भी कुछ न बनाकर, कुछ न इकट्ठा करके, यों ही बिता देते हैं। संचित बल को खोते ही चले जाते हैं; भविष्य के लिये कुछ बोते नहीं हैं। हम नहीं सोचते कि कृपालु परमात्मा का दिया हुआ कितना अच्छा अमूल्य समय हम व्यर्थ कौड़ी की तरह बेदाम और बेकाम खराब कर रहे हैं। हमें सब से समय की पाबन्दी के सुन्दर परन्तु कठोर नियम का पाठ पढ़ना चाहिये। प्रभु ने इस विषय में हमारे सामने कितनी स्वाभाविक और अचूक उपमा रखी है, यह भी देखिये :—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥

[ऋग्वेद, मं०–५, सूक्त ५१, मन्त्र–१५]

अर्थात् "सूर्य और चन्द्रमा की तरह हम नियमानुसार कल्याण मार्ग पर चलते रहें। दानशील, अहिंसक और ज्ञानी-जनों की हमें संगति मिलती रहे।" यह है वेद का सुन्दर दृष्टान्त। कोई कितना ही बड़ा योगी और महात्मा क्यों न हो, कितना ही ज्ञानी और आदर्श जीवन का मालिक क्यों न हो, वह समय का इतना पाबन्द नहीं हो सकता, जितना कि भगवान् अंशुमाली है, जितना कि कान्तिमान् रजनीकान्त है। सूर्य और चन्द्रमा का उदय और अस्त, पुरीभाव और तिरोभाव, ऋतु-ऋतु

में नियम के अनुकूल होते रहते हैं। इसीलिये समयनिष्ठता का आदर्श रखते हुए भगवान् वेदपुरुष ने हमारे सामने किसी व्यक्ति का दृष्टान्त न देकर, प्राकृतिक और पूर्णतया आदर्श रूप दृष्टान्त ही रख दिया। अंग्रेज भी किसी समयनिष्ठ पुरुष का वर्णन "He works like the hands of the watch" याने "वह घड़ी की सूइयों की तरह काम करता है"--कह कर ही करते हैं; फिर भी, घड़ी उत्तम आदर्श नहीं बन सकती। उसका बनना-बिगड़ना बड़ा आसान है। मगर सूर्य और चन्द्रमा तब तक नियमानुसार चलते रहते हैं, जब तक ब्रह्म-रात्रि का आरम्भ न हो जाय।

तो, हरेक माता को सूर्य और चन्द्रमा का उत्तम आदर्श अपने सामने रख कर, निश्चित समय पर, निश्चित कार्य को कर देने की आदत डालनी चाहिये। इस से दो लाभ होते हैं। एक तो यह कि ठीक समय पर निश्चित कार्यों को कर लेने से आराम और लोक-सेवा के लिये भी काफ़ी वक्त बच जाता है। दूसरे, इस से बच्चों की जिन्दगी में फुर्तीलापन आ जाता है। साथ २ परिवार में आत्म-विश्वास की मात्रा बढ़ जाती है।

और एक बहुत ही मुख्य बात है, जिस को प्रायः लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। लोग छोटे २ कामों को यह कह कर टाल दिया करते हैं कि अरे, यह तो नाचीज़ है, इसे कोई भी कर सकता है छोटे २ कामों को करना ही नहीं चाहते। अगर चाहते हैं तो मनोयोग से नहीं करते। वे नहीं जानते कि ऐसा करते हुए वे कितनी बड़ी भूल करते हैं। हमारी प्यारी माता ने अपना खून बहा कर जब हमें जन्म दिया, हम बिलकुल छोटे थे। माता ने हमें छोटा समझकर यदि हमारी अपेक्षा की होती, हमें समय

समय पर खिलाया पिलाया और सुलाया न होता, तो आज 'हम' ही न होते। बड़ का छोटा सा बीज, अपने छोटे से परन्तु शक्ति भरे गर्भ में ऐसे महा वृक्ष के अस्तित्व को समेटे हुए है, जिस की छाया में हज़ारों लोग आराम पा सकते हैं। पानी की छोटी २ बूंदों ने प्रशान्त-महा सागर जैसे महान् वारिधि को पैदा किया है। वर्णमाला के एक एक छोटे अक्षर को सीख कर ही कपिल और कणाद, गौतम और पतंजलि, व्यास और जैमिनि, शङ्कर और दयानन्द सारी दुनियाँ को हिला देने वाले दार्शनिक विद्वान् बन गये। और तो और, प्रकृति के एक एक परमाणु को पकड़ पकड़ कर ही जगन्निर्माता ने इतने विशाल विश्व की रचना कर डाली। दर-असल बात यह है कि छोटे की अवहेलना बड़े की भी अवहेलना है। क्योंकि छोटी चीज़ ही बड़ी चीज़ की बुनियाद है। ढ़ीली बुनियाद पर आलीशान इमारत खड़ी नहीं की जा सकती। इसलिये, माता के छोटे से छोटे काम को भी पूरे मनोयोग और सच्ची लगन से करना चाहिये। क्योंकि छोटी चीज़ें ही बड़ी चीज़ों के बीज हैं। बीज़ों को अच्छी तरह सँभाले तो अच्छी फसल भी मिल जाती है। जो छोटी चीज़ों सेघृणा करता है, वह अपनी इस आदत को बड़ी चीज़ों में भी अभ्यास -बल से ले जाता है। अतः माता को सचेत रहना चाहिये और छोटे से छोटे कामों को भी दिल लगा कर अत्यन्त पवित्र भावना से सम्पन्न करना चाहिये। कोई महात्मा था, जो बार बार यह कहता था कि जो कुबुद्धि छोटे का छोटा और बड़े को बड़ा समझता है, वह बहुत भारी भूल करता है। लेकिन जो छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा समझता है, वह सत्य को जानने वाला ज्ञानी है। वैसे तो ऊपर की दृष्टि से ये बातें किसी

नशे में चूर पियक्कड़ की तोतली बातों के जैसी लगती हैं. मगर इन में सत्य का भी एक पहलू है। उस महात्मा का भाव यह है कि क्योंकि छोटी २ चीज़ों से ही बड़ी चीज़ें बनती हैं, इसलिये बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी चीज़ों का ज्यादा महत्व है। जैसे इमारत की मज़बूती ईंटों की मज़बूती पर निर्भर है, जैसे धोती की खूबी सूत की खूबी पर निर्भर है, जैसे एक नारी के शरीर की सुन्दरता उसके अङ्गों और उपाङ्गों की सुन्दरता पर निर्भर है, जैसे किसी विद्वान् की विद्वत्ता उसकी विद्या के अङ्गभूत छोटे २ पाठों की उपादेयता पर निर्भर है, ठीक इसी तरह बड़ों का बड़प्पन छोटों के छुटपन पर निर्भर है। इसलिये, बुनियादी निगाह से, छोटे ही बड़े हैं, और बड़े, छोटों से ही अपनी हस्ती हासिल करने से छोटे हैं। यदि हम छोटों की अपेक्षा करते हैं तो बड़ों की जड़ पर ही कुल्हाड़ा मारते हैं। कभी भी छोटे कामों की अपेक्षा या अवहेलना नहीं करनी चाहिये।

हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि माता के हर एक कार्य का बच्चों के मन पर असर पड़ता है। बच्चों में अनुकरण का स्वभाव होता है। बच्चे न केवल बोलने को ही, परन्तु हरेक काम को अनुकरण करके ही सीखते हैं। आखिर किसी न किसी आदर्श का अनुकरण ही मनुष्य में मनुष्यत्व की उत्पत्ति का साधन है। इसलिये, जो माता हरेक छोटे काम को पूरी इच्छा पूरे ध्यान और पवित्र भावना से करती है, वह अपने बच्चों के सामने एक बहुत ही अच्छा आदर्श रखती है। बच्चे माता की हरेक कृति को पहचानते और उनका अनुकरण करते हैं। यदि माता इस बात को ध्यान में रख कर समय निष्ठता और क्रिया-

वन्त का उच्च आदर्श रखेगी, तो सारे परिवार में आत्म-शक्ति का उत्पादन धीरे धीरे होता जायगा।

नियम पूर्वक सारे गृह कार्यों का संचालन करने वाली माता के बच्चे, अपनी प्यारी माता का अनुकरण करते हुए, खुद भी कार्य-पटु हो जाते हैं। स्वयं कुछ न करते हुए, हाथ पर हाथ धर कर का पाँव पसार कर आलस की जीवित प्रतिमाओं की तरह बैठ कर इधर उधर की व्यर्थ गप्पें हाँकने वाले माता पिताओं से, उन के बच्चे भी करते हैं। क्योंकि उनके सामने क्रिया शीलता या सदाचार का कोई उत्तम आदर्श नहीं होता, इसलिए वे भी धूर्त और उद्दण्ड होकर ही बढ़ते हैं। इसके विरुद्ध माता पिता यदि पूरे निरालस्य होकर अपने दैनिक कार्य अच्छी तरह करने वाले, वेदादि सत्य शास्त्रों, आचार्यों, आप्ता और विद्वान् अतिथियों के आज्ञा पालन और धर्मनिष्ठ श्रद्धालु हैं, तो बच्चों में भी ये सारे सद्गुण आ जाते हैं। उच्च बनने का सर्वोत्तम साधन विनय कहा गया है। भगवद्गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने ज्ञान-प्राप्ति के तीन साधन या उपाय बताये हैं:-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः॥

[अध्याय ४ श्लोक-३४]

"हे अर्जुन! ज्ञानी और तत्वदर्शी महात्मा तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे। तू उसे प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से जान।"

प्रकाश देना सूर्य भगवान् का काम है। पर यदि उसके प्रकाश से लाभ उठाना है और अपने कमरे के अन्दर उस प्रकाश का आवाहन करना है तो दरवाज़े खिड़कियाँ आदि प्रकाश मार्गों का खोलना प्रकाश की इच्छा करने वाले का काम है।

ठीक इसी प्रकार, ज्ञान का उपदेश देना महानुभावों का काम है, पर उस ज्ञान को हृदय में स्थापित करना के लिए अपने को योग्य बनाना ज्ञान की इच्छा करने वाले का फ़र्ज़ है, ज्ञान चाहने वाले के हृदय में सब से पहिले विनय की भावना होनी चाहिये। श्री कृष्ण महाराज ने इसी विनय को प्रणिपात कहा है। नियात कहते हैं झुकने को। उत्तम भावना के साथ-नियम के साथ झुकना ही प्रणिपात है। महात्मा मनु ने भी कहा है :।

नापृष्टःकस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नापि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

[मनुस्मृति, अध्याय-४ , श्लोक- ११०]

"न पूछा जाकर किसी को कुछ उपदेश दे, न अन्याय से पूछने वाले को ही उपदेश प्रदान करे। बुद्धिमान् जानते हुए भी लोक में जड़ का सा व्यवहार करे।" भाव एक ही है। जो जिज्ञासा भाव न रख कर, ज्ञानी से भी लाभ उठाना नहीं चाहता, और जो अधर्म से पूछता है, उसे भी कुछ न कहे। क्योंकि जो विद्वानों का सम्मान करना नहीं चाहता और जिसके दिल में धर्म जानने की इच्छा ही नहीं है, वह सुना हुआ धर्म भी अनुसुना कर देता है। उसकी आत्मा उस से कोइ फ़ायदा नहीं उठा सकती इस तरह विद्वान् का समय और शक्ति व्यर्थ खर्च होते हैं। न बोलने वाले का हित होता है, न सुनने वाले का। इसलिये इस हालत में विद्वान् का 'मौनेन कलहं नास्ति' वाली नीति पर चलना ही श्रेयस्कर है।

इस जिज्ञासु-भाव को दिल में रख कर ही योगिराज श्री कृष्ण चन्द्र जी ने जिज्ञासु के लिये पहला नियम 'प्रणिपात' का ही बताया। जब प्रणिपात अर्थात् विनय से अभिवादन करने

की शिष्ट-मर्यादा का पालन करने की योग्यता आ जाती है, तभी 'परिप्रश्न' का अधिकार मिलता है अहम्भावी या घमंडी अगर कुछ प्रश्न भी करता है तो उस जानने की इच्छा का लेश भी नहीं होता, वह अपनी पण्डिताई या बड़ाई छांटने के लिये ही प्रश्न किया करता है। इस से सत्यासत्य का निर्णय होना तो दूर ही रहा; व्यर्थ का वैमनस्य-मन-मुटाव हो जाता है। अतः परिप्रश्न का-बार २ पूछने का अधिकारी भी केवल विनय गुण सम्पन्न अभिवादन-शील जिज्ञासु ही है। इसी भाव को दृढ़ करते हुए श्री कृष्ण ने आगे, सेवा का भी निर्देश कर दिया। लड़-भिड़ कर कोई ज्ञानी नहीं बनता। ज्ञान कमाने का रास्ता तो सेवा है। सेवा का अपना खास महत्व है। सेवा जहां दूसरों की आत्मा को जीत लेती है—वहाँ सेवा करने वाले की आत्मा का भी विकास कर देती है। सेवा में स्वार्थ और परार्थ का जितना अविरोध समन्वय है। उतना शायद ही और किसी गुण या क्रिया में हो। प्राचीन काल में शिष्य बरसों तक अपने आचार्य की तन-मन-धन से सेवा करके विद्या प्राप्त करते थे। जहाँ सेवा का उपहास होता है, वहाँ आत्मा का विकास असम्भव समझना चाहिये। लेकिन सेवा में गुलामी की बू तक आने लगती है, जब सेवक की आत्मा में विनय नहीं होता। दूसरे की खुशामद या डर से जो सेवा की जाती है, वह कोई उत्तम क्रिया नहीं है। दिल और दिमाग में सचमुच विनय भाव हो मन और वचन से और फिर तन से उसको प्रकट रूप दिया जाय, बस यही सेवा है। मनु महाराज ने भी कहा है:—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

[मनुस्मृति, अध्याय-४, श्लोक--१११]

अर्थात् "जो प्रतिदिन बढ़े-बूढ़ों की सेवा और आदर-नमस्कार करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल, ये चारों बढ़ जाते हैं।" जहां भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने प्रणिपात के साथ सेवा जोड़ दी, वहां मनु भगवान् ने अभिवादन के साथ उपसेवा लगा दी। बात वही है। प्रणिपात और अभिवादन विनय गुण के ही सूचक हैं। सेवा या उपसेवा उसी विनय गुण के प्रकट रूप हैं। भावाथ यही हुआ कि जिसके दिल में सच्चा विनय गुण है, वह सेवा भी करता है। वृद्धों का बड़े बूढ़ों का आशीर्वाद उन्हीं को मिलता हैं, जो सचमुच प्रणिपात सम्पन्न या अभिवादन शील होते हैं। ज्ञान, आयु आदि दृष्टियों से जो वृद्ध यानी बूढ़े होते हैं, उनके आशीर्वाद का अपना खास महत्व होता है। अपनी विद्या और अनुभव का भण्डार खोल कर वे उन लोगों के सामने रख देते हैं, जिन अभिवादन शीलों को आशीर्वाद देना वे उचित समझते हैं। इतना तो हरेक को समझ लेना चाहिये कि ढोंगियों को कभी वृद्धों का सच्चा हार्दिक आशीर्वाद नहीं मिलता। इस लिये यदि माता को अपने बच्चों को दीर्घायु, विद्वान् यशस्वी और बलवान् बनाना है तो उनके सामने ऐसा सुन्दर क्रियात्मक मिसाल पेश करनी चाहिये, जिससे वे अभिवादन शील अर्थात् विनय गुण से युक्त होने का पाठ ले सकें। जब बच्चे विनयशील होकर प्रतिदिन आदर पूर्वक बड़ों की सेवा-सुश्रूषा करते हैं तो बढ़े लोग उनको उत्तम शिक्षा देकर कि किस प्रकार के आहार-विहार, आचार-विचार और पाठ प्रवचन से उनकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ जाते हैं, उनको वास्तव में लम्बी आयु वाले, सुशिक्षित, कीर्तिमान् और शक्तिशाली बना देते हैं।

किसी महात्मा ने कहा भी है कि "सदाचारेण देवत्वं ऋषित्वं च तथा भवेत्।" अर्थात् सदाचार से मनुष्य देव भी बन सकता है ऋषि भी। इस सदाचार का सन्तानों में निर्माण करने में पिता और आचार्य से भी ज्यादा माता का ही हाथ है। कोई माता अपनी सन्तान को दुष्ट, अज्ञानी और कदाचारी देखना नहीं चाहती होगी। किसी कविवर ने कहा भी है:—

कुपुत्रो यदि जायेत क्वाचिदपि कुमाता न भवति।

"यदि कोई पुत्र बुरा भी हो जाय, माता कदापि बुरी नहीं होती।" पुत्र माता की बुराई तो करे; माता कभी भी अपने पुत्र का अहित करने के लिये तैयार नहीं होगी! ज़रूरत हो तो माता अपनी जान कटा कर भी पुत्र को बचा लेगी। ऐसी ममतामयी, मधुरमना मङ्गल मानिनी माता कब और कैसे इस परिस्थिति को सह सकती है जिसमें उसका लड़का अल्प-आयु मूर्ख, बदनाम और कमज़ोर हो? हरेक माता यही चाहती है उसकी प्यारी सन्तान उच्च आदर्श रखने वाली, आर्य जीवन व्यतीत करने वाली, और सम्भावित हो। इस लिये माता को यह भी जान लेना चाहिये कि आर्यों के क्या लक्षण हैं? क्यों कि अपने नाम के साथ आर्य शब्द जोड़ लेने से या आर्य समाज के आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर कर देने मात्र से कोई आर्य नहीं बन जाता। आर्य बनना कैसे है—इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

———

आर्य कौन है ?

आर्य अत्यन्त सुन्दर, आर्यगर्भित, पवित्र और महत्वपूर्ण शब्द है। यह शब्द उतना ही प्राचीन है, जितना कि यह सृष्टि है। इस शब्द की विस्तृत व्याख्या तो एक वृहत्काय ग्रन्थ का विषय बन सकती है। फिर भी प्रत्येक माता के सामने आर्यत्व का आदर्श होना ज़रूरी है, इसलिये संक्षेप से वहां आर्य के लक्षण बताते हैं। भगवती वेदश्रुति घोषणा कर रही है:—

इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृणवन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः॥

[ऋग्वेद, म०-९, सू-६३ मन्त्र-५]

इसका भावार्थ यह है-"अपनी आत्मा को विकसित करते हुए, तीव्रगामी और क्रियाशील होते हुए, अदान भावनाओं को दूर करते हुए, सारे विश्व को आर्य बनाओ।"

वेद भगवान् का यह आदेश बहुत महत्वपूर्ण है। सारे विश्व को आर्य बनाने का इसमें सन्देश है। और यह तो मानी हुई बात है कि खुद बुझी हुई आग न किसी को गरम कर सकती है, न उजाला दे सकती है। आर्यों से प्रकाश का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बिना उसके आर्य आर्य ही नहीं कहलाते। ऋग्वेद में "आर्याः ज्योतिरग्राः"-ऐसा कहा भी है। आर्य तो ज्योतिष्मान् होते हैं। जहां उनकी प्रार्थना 'असतो मा सद्गमय'-'मुझे असत्य से छुड़ाकर सत्य की ओर ले जा'—है,

वहां यह भी उनकी जगतपिता से अभ्यर्थना है-"तमसो मा ज्योतिर्गमय"-"हे भगवन्! मुझे अंधेरे से बाहर करके उजाले की ओर ले जा।" यदि दुनियां में सब से नीच कोई वस्तु है तो वह अन्धकार है। आर्य अपनी जान भी दे देंगे, लेकिन अन्धकार में रहना पसन्द नहीं करेंगे। और तो और, आर्यों का स्वतः प्रमाण वेद हैं। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही 'अग्नि' से शुरू होता है। अग्नि जहां आत्मिक प्रकाश परमात्मा का नाम है, वहां भौतिक प्रकाश आग का भी नाम है। आर्य वास्तव में आत्मिक और भौतिक प्रकाश के सच्चे उपासक होते हैं। बिना अग्नि प्रदीपन किये आर्यों का कोई संस्कार नहीं होता, फिर वह जातकर्म हो या अन्त्येष्टि! दर असल आर्य अग्नि से आग के पुञ्ज होकर ही निकलते हैं, आग बनकर ही दुनियां को चमका देते हैं, फिर आग का ही तेज अपने में लेकर अग्नि में ही समा जाते हैं। आर्य आत्मिक और भौतिक अन्धकार के परम शत्रु होते हैं। आत्मिक अन्धकार अर्थात् असत्य और भौतिक अन्धकार अर्थात् दारिद्र्य--इनसे बचना और बचाना ही आर्यों के आर्यत्व का लक्षण है।

ऊपर दिया हुआ मन्त्र हमें यही बता रहा है। यदि हम सारे विश्व को आर्य बनाना चाहते हैं तो उससे पहले हमें अपने को दृढ़ बनाना पड़ता है। अप्तुरः अर्थात् काय करने में आलस न करते हुए, शीघ्रता से अपने कर्तव्यों को निभाते हुए, हमें अपने 'इन्द्र' को—इन्द्रियों से काम लेने वाली और इन्द्रियों को चलाने वाली अपनी आत्मा को "वर्धन्तः" बढ़ाते हुए जाना है। फिर, 'अराव्णः' अर्थात संकुचित, अनुदार और स्वार्थी भावनाओं को 'अप घ्नन्तः'-जड़ से काटते हुआ आगे निकलना है।

तब कहीं जाकर हम विश्व को आर्य बनाने में समर्थ होंगे ।

तो वेद हमें बताता है कि आर्य अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाने वाले और संकुचित स्वार्थी अनुदार भावनाओं का नाश करने वाले होते हैं। ये ही आर्यों के दो लक्षण हैं ।

आत्म-शक्ति को बढ़ाने के बारे में पहले कुछ जानना आवश्यक है। शक्ति तो प्रत्येक जीवात्मा में भरी हुई है। परन्तु, इस शक्ति का अपव्यय इन्द्रियों द्वारा होता रहता है, इसलिए जीव अपने को कमज़ोर समझने लगता है। जीवात्मा एक राजा है, जिसके दस मन्त्री पांच ज्ञानइन्द्रियें और पांच कर्म इन्द्रियें हैं। यदि ये मन्त्री अपने स्वामी में निष्ठा रखने वाले होकर ठीक रास्ते पर चलते रहें, तो राजा भी शक्तिसम्पन्न होगा। किन्तु, अगर ये राज्य के कोष को आपस में बांट कर खा जाने वाले द्रोही बन जायें तो राजसत्ता का डांवाडोल होना अनिवार्य है। जीवात्मा जो कि राजा है, इन्हीं इन्द्रियों के सहारे जीवन-रूपी अपना राज-काज चला रहा है। ये इन्द्रियें कौन हैं, सो भी समझ लें :—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृती: ॥

[मनुस्मृति, अध्याय-२, श्लोक-९०]

'कान चर्म, आंख, जीभ और नाक--ये पांच बुद्धिन्द्रियें हैं, पायु उपस्थ, हाथ, पांव और वाणी —ये पांच कर्मेन्द्रियें हैं।" इन दस इन्द्रियों द्वारा ही आत्मा की शक्तियों का सद्व्यय या अपव्यय निरन्तर होता रहता है।

ये दसों बहुत प्रबल मन्त्री हैं। इन मन्त्रियों के ऊपर भी एक महासचिव है जिसे मन कहा करते हैं। यह मन ही है जो राजा के हित या अहित के लिये उपर्युक्त मन्त्रिमण्डल का अच्छे या बुरे मार्ग पर संचालन करता है। मन की दो शक्तियां मानी गयी है। मन जहां Ministerial Powers अर्थात् ज्ञान शक्ति रखता है वहां Executive Powers अर्थात् कर्मशक्ति भी रखता है। जीवात्मा के जीवन-राज्य का बागडोर इस मन के हाथ में है। महात्मा मनु कहते है:—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जितौ जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गुणौ ।।

[मनुस्मृति, अध्याय-२, श्लोक-९२]

"ग्यारहवां मन जानना चाहिये, जोकि अपने गुण से उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेंद्रिय भी, और जिसको जीत लेने पर ये दोनों पांच-पांच के गण जीते जाते हैं।" इसलिये, यदि जीवात्मा को अपनी शक्ति की रक्षा करनी और उसे बढ़ाना है तो सब से पहले इस मन पर अधिकार कर लेना चाहिये। नहीं तो यह मन जीवात्मा को उसी तरह डुबो कर खुद भी डूब जायेगा, जिस तरह रूस के अन्तिम सम्राट् निकोलस को डुबो कर ढोंगी गुरु रास पुटिन खुद भी डूब गया। यह महासचिव मन जब अन्तर्मुख हो जाता है तब आत्मा की शक्ति बढ़ती है और जब यह बहिर्मुख होकर अन्य दल सचिवों के साथ मिल जाता है तो शक्ति बिखर जाती है। यह महासचिव मुश्किल से आत्मसंस्थ होता है—इस में सन्देह नहीं। अर्जुन के सामने भी यही समस्या थी:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्कारम् ।।

[गीता, अध्याय-६, श्लोक—३४]

"हे कृष्ण ! मन चञ्चल है। मथन करने वाला–इन्द्रियों में उथल पुथल मचाने बलवान् और दृढ़ है। इसको काबू में लाना मैं वैसे ही कठिन समझता हूं जैसे वायु को बांधना।" और अर्जुन कहता तो ठीक है। सचमुच मन एक अत्यन्त प्रबल सत्ता है। इसी मन के बारे में कहा गया है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः—मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जब मन आत्मा की ओर मुड़ा हुआ है, तब अर्जुन के कहे हुए सारे गुण- चञ्चलता, उथल-पुथल मचाने की शक्ति, बल, दृढ़ता आदि आत्मा की शक्ति के बढ़ाने में सहायक होते हैं। जब वही मन आत्मा की अवहेलना कर के ज्ञान्द्रियों का भौतिक अर्थों में चलाता है, निश्चय ही आत्मा की शक्ति को घटाता है।

इस मन को वश में करने के दो साधन श्रीकृष्ण महाराज ने बताये हैं। वे भी मननीय हैं–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

[गीता, अध्याय-६, श्लोक--३५]

"हे महाबाहो अर्जुनः ! इस में सन्देह नहीं कि मन कठिनता से वश में आने वाला और चञ्चल है। फिर भी, हे कुन्ती पुत्र अभ्यास और वैराग्य से यह मन वश में आ जाता है।"

श्रीकृष्ण जी के मत में अभ्यास मन को जीतने का पहला साधन है। एक ही दिशा में एक ही उद्देश्य से निरन्तर प्रयत्न करना ही अभ्यास है। मन को वश में करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। कभी गफलतमें पड़कर सोना नहीं चाहिये दूसरा साधन, जो कि वैराग्य है, इसी अभ्यास को सुदृढ बनाता है। वैराग्य कहते हैं राग अर्थात् वासना को छोड़ देने को। इन्द्रियों की जब तक अपने २ विषयों में प्रवृत्ति रहती है; विषय भोगों की कामना रहती है, तब तक मन उतावला ही बना रहता है। क्योंकि कोई भी अपनी कामनाओं को आज तक तृप्त न कर पाया है। मनु भगवान् स्वयं कहते हैं:—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

[मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ६४]

कामों के भोग से कभी काम शान्त नहीं होता, जैसे आग घी से बढ़ती है, वैसे बढ़ता ही जाता है।" कोई भी पियक्कड़ इस विचार से कि पी पी कर पीने की लत से छूट जाऊंगा; पीता ही चला जाय, वह जन्म भर पीता ही रहेगा; उसकी कामना पूरी नहीं होगी। यदि कोई वेश्या व्यसनी या अत्यन्त विषयाभिलाषी यह सोच कर कि जीभर स्त्री संग करके नारी भोग की कामना को जीत लूंगा, उसी व्यसन में अग्रसर होता चला जाय, तो उस का सत्यानाश तो हो जायगा, लेकिन उसकी कामना वैसी की वैसी की बनी रहेगी। इस लिये, अगर कामनाओं को जीतना है तो इन्द्रियार्थों से वैराग्य ही रखता है। लोलुपता से जब वैराग्य हो जाता है तो मन भी शांत हो जाता है।

तो इन्द्रिय-विजय द्वारा जगद्विजयी हो होकर आत्म-साम्राज्य पर अधिकार करने वाले सच्चे आर्य हैं।

अब दूसरे लक्षण पर भी कुछ प्रकाश डालेंगे। यह लक्षण है अनुदार भावनाओं को नाश करने की प्रवृत्ति। आज दुनियां में, इतनी अशान्ति इसी लिये मची हुई है कि आज लोगों में दानशीलता की कमी है। लोग बटोरना ही जानते हैं, बखेरना नहीं जानते। "सब मेरे लिये चाहिये, सब कुछ मेरा हो जावे।" यही आज कल के मनुष्यों का मनो भाव है। जहां वैदिक ऋषि-मुनि "इदन्न मम" का पाठ पढ़ते थे, वहां आज कल के लिप्सु मानव "तदपि मम; इदमपि ममैव" का राग अलापते हैं। ऐसे लोगों का श्रीकृष्ण महाराज ने कितना सुन्दर नक्शा खींचा है:—

आशापाशशतैर्बद्धाः काम क्रोध परायणाः।
ईहन्ते काम भोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयान् ॥

[गीता, अध्याय-१६, श्लोक १२]

"जो सैकड़ों आशाओं के रस्सों से बन्धे हुए, काम और क्रोध के मार्ग के यात्री हैं, वे अपने काम भोगों के लिये अन्याय से भी धन-दौलत का संचय करना चाहते हैं।" सचमुच यह अनुदार भावना की नंगी तस्वीर है। अपने कामों की तृप्ति के लिये औरों पर घात करना, वैदिक भाषा में 'अरावा' या अनुदार का ही काम है। वेद पुरुष की आज्ञा है:—

शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त संकिर।
कृतस्य कार्यस्येह स्फातिं समावह ॥

[अथर्ववेद

"हे जीवात्मन् ! सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से उसे बांट दे। इस तरह किये हुए कार्य का विस्तार कर।" कितना सुन्दर उपदेश है ? कमाने की क्रिया का विस्तार इकट्ठा करने में नहीं. परन्तु बांट देने में है। दस रुपये कमाये और अपने पास रख लिये तो वह धन एक ही जगह इकट्ठा पड़ा रहा, संग्रह ही हुआ। पर उसे यदि दस पात्र दीनों में वितरित कर दिया तो उसका फैलाव हुआ। उस क्रिया का विस्तार हुआ। सब पढ़े लिखे जानते हैं कि Accumulation of wealth अर्थात् धन या संग्रह ही सारी ईर्ष्याओं और, खराबियों की जड़ है। इस में सन्देह नहीं है कि उदार व्यक्ति के पास धन टिकता नहीं है। दानशील का धन दीन-दरिद्रों का है। परन्तु जो अनुदार है, वह स्वार्थी होता ही है। स्वार्थी के लिये न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य—सब एक जैसे हैं। उससे दुनियां का हित तो कहां सत्यानाश ही हो जाता है। भगवती श्रुति तो हमें आज्ञा दे रही है:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

[यजुर्वेद, अध्याय-४०, मन्त्र-६]

"जो प्राणियों को अपने में और सब प्राणियों में अपने को देखता है, वह सन्देह नहीं करता कि वह मेरा है या पराया।" जीव-मात्र के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख समझना, अपने को जीव कोटि का एक अंग मात्र मानना—यही उदारता है। जातिभेद, कुल-भेद, वर्ण-भेद, आदि सब भेदों से ऊपर उठकर, मनुष्यमात्र पर, नहीं नहीं, जीवमात्र

पर शुद्ध प्रेम सुधा की सुखद वर्षा करना, उदारता की पराकाष्ठा है। इस के विरुद्ध संकुचित भावना है। आर्य का दूसरा लक्षण भगवतीश्रुति के आदेशानुसार इस संकुचित भावना का नामो निशान तक मिटा देना और उदारता दान शीलता या आत्मौपम्य दृष्टि का क्रियात्मक प्रचार है।

इस तरह संयमी और उदारता के प्रचारक ही आर्य हैं। वे ही दुनिया भर के मनुष्यों को संयमी और उदार बनाने का दम भर सकते हैं। खुद अपनी जिह्वा पर जिनका अधिकार नहीं है, जिन की जिह्वायें मधुर-वचनों की सुख वर्षा के बदले कठोर शब्दों के ओले बरसाती हैं, जिन के कान उत्तेजक गाने सुनने को तरसते हैं, जिन की आंखें अभद्र दृश्यों की ओर झपटती हैं। जिन की नाकें दुर्गन्ध के सूंघने की ही आदी हैं और जिनकी त्वचा कामोद्भासक वस्तुओं के स्पर्श में ही लगी रहती है, वे दूसरों को संयमी क्या बनायेंगे ? जिन के दिल खुद धन बटोरने और कामोपभोग की वस्तुओं को इकट्ठा करने में मस्त हैं, जिन के मन में गरीबों दीन-दुःखियों, और रोगियों और दलितों के प्रति घृणा का भाव है, जो मनुष्य-जाति को गोरे और काले, भारतीय और अभारतीय, हिन्दू और अहिन्दू ब्राह्मण और अब्राह्मण,सवर्ण और हरिजन आदि टुकड़ों में चीरने के आदी हो गये हैं, दुनियां की उदारता का पाठ क्या पढ़ायेंगे ?

इस लिये, यदि विश्व को आर्य बनाना है तो खुद आर्य बनो। अब आर्य शब्द पर भी जरा बिचार कर लो। निरुक्तकार आचार्य यास्क मुनि अपने निरुक्त में आर्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैः—

आर्य ईश्वरपुत्रः ॥६–२६॥

"आर्य नाम ईश्वर के पुत्र का है।" सारे जीवात्मा अनादि हैं। और सब जीवात्माओं का, उनके कर्मानुसार शरीरों से सम्बन्ध कराने वाला ईश्वर है। इस दृष्टि से जीव मात्र का पिता ईश्वर है और सभी जीव इस अर्थ में ईश्वर-पुत्र हैं। इस तरह सामान्य अर्थ में जीव-मात्र आर्य भी हो जाते हैं। तब इस शब्द का कोई महत्व नहीं होता। परन्तु निरुक्तकार ने इस सामान्य अर्थ में आर्य की व्याख्या नहीं की है; मगर एक विशेषार्थ में की है। एक दृष्टान्त से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। फ़र्ज करो कि किसी पिता के राम और भीम दो पुत्र हैं। राम पिता के अनुकूल गुण-गणों से विभूषित है और भीम हमेशा बाप के खिलाफ उलटी चाल चलने में ही मजा पाता है। इस अवस्था में, बुद्धिमान लोग यही कहते हैं कि राम ही अपने पिता का पुत्र है। इसी तरह जो सदाचारी भक्त महानुभाव, मन, वचन और काया से जगदीश्वर पिता के अनुकूल आचरण रखते हैं, जो आत्मकल्याण के लिये लोक कल्याण की अवहेलना न करके जीव-मात्र को अपना भाई समझ कर सर्वहित में रत रहते हैं, इन्हीं को आचार्य यास्क ईश्वर-पुत्र कह कर पुकारते हैं और वे ही आर्य हैं।

महाकुलकुलीनार्य सभ्य सज्जन साधवः।

[अमरकोषः]

अमरकोष में महाकुल, कुलीन, आर्य, सभ्य, सज्जन और साधु--इन को समानार्थवाची कहा गया है। उत्तम कुल में पैदा होकर, उस कुलगौरव के अनुरूप आचार-विचार रखने वाला आर्य है। यही अर्थ कुलीन का भी है। सभा और समिति में

बैठने योग्य आचारवान् पुरुष सभ्य कहलाता है और वह आर्य है। उत्तम सत्यवान् पुरुष सज्जन कहलाता है और वह आर्य है। पर हिंसा से कायेन मनसा वाचा बचने वाले अहिंसक को साधु कहते हैं और साधु आर्य है। 'साघ्नोति प्राप्नोतीति साधुः'- अर्थात् पुरुषार्थ करके प्राप्य को प्राप्त कर लेने वाला "साधु है।" ऐसी भी निरुक्ति है। इस अर्थ में सत्कर्मशील है, साधु है और वही आर्य है।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक ख्यातनामा महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज कहते हैं कि आर्य नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषों का है। अन्यत्र वे ही धर्मात्मा दिव्यदर्शी महर्षि कर्नल आल्काट के नाम लिखे अपने एक पत्र में कहते हैं कि जो अपने विद्या, शिक्षा, परोपकार, धर्माचरण से युक्त होने के कारण इस योग्य हों कि लोग उसे जानें, उसकी संगति करें और उसे प्राप्त करें, वह आर्य है।

महाभारतकार महात्मा व्यास कहते हैं :—

ज्ञानी तुष्टश्च दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुर्नम्रश्च स्यादार्यो ह्यष्टभिर्गुणैः॥

"ज्ञान, सन्तोष, मनोनिग्रह, सत्यभाषण, इन्द्रिय विजय, दान, दया और विनय—इन आठ गुणों से मनुष्य आर्य बनता है।" इसका मतलब यह हुआ कि जिसे आर्य बनना है, उसे विद्वान् बनना चाहिये। लोभ का त्याग करना चाहिये। मन को वश में करना चाहिये। सत्यभाषी बनना चाहिये। अपनी इन्द्रियों पर अधिकार कर लेना चाहिये। पात्रों में दान देने की उदारता की आदत डालनी चाहिये। जीव मात्र पर दया करनी

चाहिये। विनयगुण का धनी बनना चाहिये। इन गुणों के बिना कोई आर्य नहीं बन पाता।

कर्तव्यमाचरन्नित्यमकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥

"जो हमेशा करने योग्य कार्यों को ही करता और करने अयोग्य कर्मों से बचता रहता है, बनावटी और उत्तेजक व्यवहारों से मुख मोड़ कर जो स्वाभाविक सदाचार में लगा रहता है, उसे आर्य कहा गया है।"

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्वा न पश्चात्कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्य शीलः ॥

"जो अपने सुख में और दूसरों के दुःख में प्रसन्न नहीं होता, जो दान करके पीछे से पछताता नहीं है, वही सत्पुरुष आर्यशील कहलाता है।"

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तो न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥

"जो खुद प्रशान्त होकर द्वेष को नहीं बढ़ाता, जो अभिमान नहीं करता, जो अवनति की ओर नहीं जाता और जो दुरवस्था को प्राप्त होकर भी बुरे काम नहीं करता, उसी आर्यशील को आर्य लोग आर्य कहते हैं।"-

उपरिलिखित कथनों से साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि आर्य के अन्दर कौन कौन से गुणों का होना आवश्यक है। माता को स्वयं इन उत्तम गुणों से भूषित होकर अपनी प्यारी सन्तान में

भी इन्हीं पवित्र गुणों के लाने का प्रयत्न हर वक्त करना चाहिये। क्योंकि, जैसे कि हम पहले ही कह चुके हैं, जो गुण जिसके पास खुद नहीं है. वह उसे दूसरों में उत्पन्न कैसे करेगा ?

आर्यों के विरुद्ध गुण वालों को वेद भगवान् दस्यु कहते हैं। दस्यु का स्वरूप भी ज़रा देख लीजिये :—

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पर्णीरश्रद्धां अवृधां अयज्ञान् ।
प्र प्र तान्दस्यूं रग्निर्विषाय पूर्वश्चकारापरां अयज्यून् ।।

[ऋग्वेद मण्डल–७, सूक्त–६, मन्त्र–३.]

"प्राचीन अग्नि ने काम न करने वाले, कठोर हृदय, कटुभाषी, लोभी. श्रद्धाविहीन, आगे न बढ़ने वाले, परोपकार न करने वाले, विद्वानों की सेवा न करने वाले उन दस्युओं को दूर करके अलग ही कर दिया ।"

यह तो शब्दार्थ हुआ। अब इसका भाव समझना है। प्राचीन अग्नि और कोई नहीं है। प्राचीन का अर्थ जहां पूर्व-कालिक होता है, वहां 'आगे जाने वाला' अग्रणी भी होता है। अग्नि तो तेजस्वी नेता है। वैदिक भाषा क्योंकि कालावच्छिन्न नहीं है, इसलिये उसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् का कोई अन्तर ही नहीं है। तो अब भाव यह निकलता है कि राष्ट्र की अगुआई करने वाले नेता को चाहिये कि बह आर्यों से दस्युओं को अलग करना जाने, आर्य-अनार्य की पहचान उसे हो। इस मन्त्र में दस्यु के ८ लक्षण बताये गये हैं। उन पर ग़ौर करना चाहिये :—

१. **अक्रतुः दस्युः** काम न करने वाला, कामचोर, निठल्ला, आलसी दस्यु है।

२. ग्रथी दस्युः कठोर दिल वाला, क्रूर स्वभाव, पर-हिंसक दस्यु है।

३. मृध्रवाक् दस्युः कठोर वचन बोलने वाला, जिसकी जीभ से मृदुल शब्द नहीं निकलते, वह दस्यु है।

४. पणिः दस्युः लोभी, लालची दस्यु है।

५. अश्रद्धो दस्युः सत्य, धर्म और ईश्वर में जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह दस्यु है।

६. अवृधो दस्युः जो कभी नहीं बढ़ता, जो उन्नति नहीं करता, किन्तु जो अवनति की ओर ही जाता रहता है, वह दस्यु है।

७. अयज्ञो दस्युः यज्ञ अर्थात् उत्तम कर्म न करने वाला दस्यु है।

८. अयज्यू दस्युः विद्वान् सत्पुरुषों का आदर-सत्कार न करने वाला दस्यु है।

ये आठ अवगुण हैं, जो मनुष्य को दस्यु बना देते हैं। इस लिये, हरेक माता का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों में ये दुर्गुण आने न देवे। दस्यु शब्द ही दस् धातु से बनता है। दस् धातु के अर्थ हैं काटना, नाश करना, निःसत्व कर देना। इसी लिये दस्यु के शब्दार्थ चोर, डाकू, द्रोही, क्रूर, हिंसक, अत्याचारी आदि होते हैं। अन्यत्र कहा भी गया है :--

"अकर्माऽमन्ताऽन्यव्रतोऽमानुषो दस्युः।"

इसका भी भावार्थ वही है, जो उपरिकथित वेद-मन्त्र का है। अर्थात् :—

१. अकर्मा—जो काम न करने वाला आलसी है, वह दस्यु है।

२. अमन्ता—जो मननशील नहीं है, जो सोच-विचार कर काम नहीं करता परन्तु पशु की तरह खाता पीता और मौज़ करता है, वह दस्यु है।

३. अन्यव्रतः—जो हमेशा व्रत से अन्य, अर्थात् दूर ही रहता है, जो व्रत कुछ लेता है और करता और कुछ है, जिसके दिल में कुछ और जीभ पर कुछ है, वह दस्यु है।

४. अमानुषः—जिसके व्यवहार मनुष्यों के योग्य नहीं होते, जो राक्षस बनकर लोकहिंसा में लगे रहते है, वे दस्यु हैं।

इन अवगुणों से खुद बचना और बच्चों को बचाना हरेक माता का मुख्य कर्तव्य है। किसी भी माता को यह समझना नहीं चाहिये कि ये नियम कठिन हैं। वैसे तो हरेक अच्छा गुण कठिनाई से ही भरा होता है। बुराई का मार्ग शुरू २ में बहुत ही सुगम मालूम देता है, पर चलते २ वह इतना बीहड़ हो जाता है कि मनुष्य अपने मनुष्यपन के भूल कर पशु की तरह भबकने लगता है। परन्तु भलाई का मार्ग पहले २ तो जरा दुर्गम दिखाई देता है, पर एक बार पांव जम गया तो वह इतना सरल, सुगम और साफ-सुथरा नज़र आता है कि उस मङ्गल-मय महामार्ग का यात्री पूरा निडर होकर आगे ही आगे बढ़ता चला जाता है और अपने आदर्श को पहुंच जाता है। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाली वेद की श्रीवाणी भी है :—

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते ।

नात्रावखादो अस्ति वः ॥

[ऋग्वेद, मं-१, सू-४१, मंत्र-४]

"हे तेजस्वी पुरुषो ! सत्य पर चलने वाले के लिए यह मार्ग सुगम और कांटों से रहित है। यहां आपके लिए पतन की कोई आशङ्का नहीं है।"

पहले पहले, भले ही कुछ कठिनाई महसूस हो, पर, जैसे कि ऊपर कह चुके हैं, एक बार आपने साहस-पूर्वक पांव रख दिया तो फिर रास्ता बिलकुल साफ़ सीधा है। असत्य पथ पर भटक जाने का पग पग पर भय है, क्योंकि असत्य की तो हजारों-लाखों पगडंडियां दोनों ओर हो चली हैं, किस में जाय, किसमें न जाय ? लेकिन सत्य एक है, अखण्ड है। उसके शाखायें तो फूट ही नहीं सकतीं। इसलिये सीधा एक राज-मार्ग है। शान से पग पग आगे बढ़ाते चले जाओ। कोई डर नहीं।

इसलिये, माता को हर तरह कोशिश करके स्वयं आर्या बनकर, अपनी सन्तान के सामने आर्यत्व का एक उत्तम और सरल दृष्टान्त रखना चाहिये, जिसका बच्चे के अन्तःकरण पर स्थायी प्रभाव पड़ेगा। शिशु अनुकरण-प्रिय तो होता ही है। यदि माता का आचरण आर्य योग्य है तो उसकी देखा देखी शिशु भी आर्य बन ही जायगा। घर भी विशाल विश्व का एक अङ्ग ही है। घर में दो-चार आर्य बन गये तो संसार को उतनी ही संख्या में आर्य मिल गये। अंग्रेज़ी की "Charity begins at Home" वाली कहावत मशहूर है। "दान घर से प्रारम्भ

होता है।" आर्यत्व का दान-या यों कहिये, मनुष्यत्व का दान, जिसका दूसरा नाम ब्रह्मदान या ज्ञान-दान भी है, सब दानों में श्रेष्ठतम है। अन्नदान, वस्त्रदान, धन-दान, गृहदान, क्षेत्रदान, वैसे तो सारे ही दान प्रशस्त हैं। लेकिन निस्सन्देह वह दान सब से बड़ा है, जिसके करने से बाकी सारे दान अपने आप उपलब्ध हो जाते हैं। आर्यत्व का दान और सब दानों की जड़ है। और उस आर्यत्व के दान के पात्र तो आपके घर में ही विराजमान हैं। आपके देने की देर है। शुरू कर दीजिये, मङ्गलदान का शुभसमारम्भ आपके घर पर ही शुरू हो जाय। आप के इस दान का फल विश्व को अवश्य मिलेगा।

———

गृहिणी धर्म का स्वरूप

पिछले अध्याय में हमने कहा कि दान घर से शुरू होता है। इस का महत्व बहुत अधिक है। दुनियां में आज जितना दुःख है, जितनी अशान्ति है, जितना बैर है, सब के पीछे एक ही कारण है मनुष्यता की कमी। मनुष्य शरीर लेकर तो कई लाख रोज़ रोज़ पैदा होते रहते हैं। पर किसी कवि ने कहा भी है:—

वरमेको गुणी पुत्रो न तु मूर्खसहस्रकम्
शशाङ्कः शोभते चैको न च तारासहस्रकम् ॥

"हज़ार मूर्ख पुत्रों के होने से एक गुणवान् पुत्र का होना अच्छा है। एक चन्द्रमा रात की जितनी शोभा बढ़ाता है, उतनी एक हज़ार तारे नहीं बढ़ाते।"

शरीर की सुन्दरता भी अपना महत्व रखती है। लेकिन उसका महत्व कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। कामी, दुराचारी व्यभिचारी, परहिंसक पुरुष या स्त्री का शारीरिक सौन्दर्य, समाज या व्यक्ति के लिये कुछ उपयोगी नहीं है; बल्कि ज्यादा खतरनाक है। इस से साफ़ ज़ाहिर है कि शारीरिक सौन्दर्य का महत्व, आत्मा के गुणों की सुन्दरता पर निर्भर है। तोता और मैना आदि पालतू पक्षियों की सुन्दरता, उन के सोने के पिंजड़े में नहीं है; किन्तु उन के गुणों में है। गौ, घोड़ा आदि पशुओं की महत्ता, उन की सोने चांदी की जंजीरों के कारण नहीं; परन्तु दूध देने या काम करने की सामर्थ्य के कारण है।

इसी प्रकार, माताओं को जानना चाहिये कि सन्तान की सुन्दरता केवल शारीरिक सौन्दर्य, आभूषण आदि के कारण नहीं, किन्तु उनकी आत्मा की प्रवृत्तियों याने सुन्दर गुणों के कारण है। इस लिए सन्तानों की आत्माओं में सुन्दर गुणों का विकास करने का हर दम प्रयत्न करना चाहिये।

आखिर मनुष्यता क्या है? महाभारत में चार प्रकार की सृष्टियों का सुन्दर वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है:—

पहली जड़ सृष्टि है, जो घटती और बढ़ती है, परन्तु प्राणहीन है। जैसे पत्थर, कोयला, नीलम, हीरा; मोती आदि। प्राण हीन और मनोहीन होने से यहाँ सुख-दुख का अनुभव नहीं है।

दूसरी वृक्ष, वनस्पति आदि स्थावर सृष्टि है। पेड़, पौधे, छाल, लतायें आदि बढ़ती भी हैं और मरती भी। इन में प्राणों का अवश्य संयोग है। प्राणों का वियोग होने से ये मर या सूख जाती हैं। जहाँ तक जड़ों की पहुँच है, उस से एक हाथ परे भी पड़े अन्न या जल को लेकर अपनी भूख या प्यास को मिटाने की इन में ताक़त नहीं है। इन को न शत्रु की पहचान है, न मित्र की। दुश्मनों के आक्रमणों से अपनी जान बचाने के लिये ये भगदौड़ नहीं मचा सकती हैं। इन में मन का संयोग न होने से इन को भी सुख दुःखका अनुभव नहीं है।

तीसरी सृष्टि पशु-पक्षियों की है। चौपाये और दुपाये जानवर, उड़ने वाले पक्षी, रेंगने वाले सांप, कीड़े, मकोड़े आदि तिर्यग्जन्तु इसी सृष्टि में परिगणित हैं। इन में प्राण और मन दोनों का समावेश है, इस कारण से सुख-दुःख का अनुभव भी है। ये भूख-प्यास की निवृत्ति की कोशिश करते हैं, दोस्त

और दुश्मन को पहचानते और मित्रों के पास जाते और दुश्मनों से किनारा काटते भी हैं। गाय, बैल, हाथी, कुत्ता, घोड़ा, बिल्ली, तोता, मैना जैसे पालतू पशु-पक्षी तो अपने रक्षकों से विशेष प्रेम करना भी जानते हैं। अपनी संतान का भरण-पोषण और रक्षा करने लायक विवेक भी इन में मौजूद है। लेकिन इन में पाप-पुण्य, धर्म अधर्म आदि तत्वों के विश्लेषण की शक्ति नहीं है। स्वभाविक प्रवृत्ति के बल से ही अपनी क्रियाओं को चला लेते हैं।

चौथी अद्भुत सृष्टि मनुष्यों की है। मनुष्य सचमुच जगद्रचयिता के कला कौशल का श्रेष्ठतम दृष्टांत है। तीसरी सृष्टि की सारी विशेषताओं के अतिरिक्त मनुष्य अपनी कुछ विशेषता रखता है। जगन्नियन्ता ने प्राण और मन के साथ मनुष्य में अन्त:कारण नाम की एक अनोखी चीज़ जोड़ दी है। अन्त: करण ही मनुष्य की विशेषता है। या यों कहिये कि अन्त: करण से ही मनुष्य बनता है। सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म न्याय-अन्याय, उपकार-अपकार, प्रकाश-अंधकार, पाप-पुण्य आदि का ज्ञान इसी अन्त:करण के कारण मनुष्य को प्राप्त होता है। जिसका अन्त: करण शुद्ध है, उसी में विवेकोदय होता है। जिसका अन्त:करण पवित्र है, उसी में विचार-शक्ति जाग उठती है। अन्त: करण का निर्मलीकरण ही मानवी करण का अति-श्रेष्ठ उपकरण है। इसी अन्त: करण के कारण मनुष्य सारे विश्व में उत्तम-तम रचना कहला रहा है। अन्त: करण वान् मनुष्य न केवल अपने सुख-दु:ख को समझता है, परन्तु अन्य जीवों के सुख-दु:खों का ज्ञान भी प्राप्त करता है। नैमित्तिक

ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति भी इस में मौजूद होने से वह अपने अन्तः करण को अत्यन्त उज्वल बना सकता है।

माता को मनुष्य जाति की महिमा का ज्ञान होना चाहिये। उसे जानना चाहिये कि उसकी सन्तान में जो आत्मा है, वह अन्तःकरण से संयुक्त है। अन्तःकरण को उत्तम संस्कारों के परिशुद्ध सलिल से धोया जाय तो उसमें मानवता चमक उठेगी। इस प्रकार, अपनी सन्तान को मानव बनाने का अद्भुत कार्य भार अपने कंधों पर पड़ा है। अपने कामोपभोग के लिये शिशु को जन्म दे देने मात्र से माता या पिता का गौरव बढ़ कभी नहीं जाता। वैसे तो मूक प्राणी और वृक्षादि स्थावर भी बच्चों को जन्म दे डालते हैं। मातृत्व की सच्ची महत्ता तो अपनी सन्तान को मनुष्य बनाने में ही है।

हम पहले कह चुके हैं कि मनुष्यत्व उत्पन्न तभी होता है, जब अन्तःकरण उज्वल या शुद्ध हो जाय। इस शिशु-अन्तः-करण की परिमार्जनकर्त्री तो माता ही है। यदि माता का अन्तःकरण स्वयं शुद्ध नहीं है तो वह अपनी सन्तान के अन्तः करण को मांज नहीं सकती। इसलिये, माता यदि सफल माता बनना चाहती है तो उसे सफल गृहिणी बनना होगा। क्योंकि सफल गृहिणीत्व ही उसकी स्वान्तःकरण-शुद्धि का व्यक्त रूप है। गृहिणीत्व खुद ही एक मुख्य विषय है, जिसका प्रभाव गृह में रहने वाले बच्चों पर अनिवार्य रूप सेपड़ता है। गृहिणीत्व का एक सुन्दर शब्द-चित्र कविवर व्यास महर्षि ने महा भारत में खींचा है, जिसे हम माताओं के सामने स्थापित करते हैं।

सर्वज्ञा देवी एक सफल गृहिणी थी। उसकी घर-गिरस्ती

क्या थी, सुख सन्तोषों का सुन्दर उपवन था। उसके ससुर और सास, उसके साले और ननदें–सब उसको सचमुच गृह रानी ही समझते और उसका आदर करते थे। उसका भाग्यवान् पति तो उसकी प्राप्ति के लिये परमपिता परमात्मा को भूरि भूरि धन्यवाद समर्पण करता था। एक सुमन्या देवी थी, जिसे सौभाग्यवती श्रीमती सर्वज्ञा देवी की मञ्जुल वाणी से सफल गृहणी धर्म का सुन्दर व्याख्यान श्रवण करके अपनी भी गिरस्थी को मङ्गलमय बना देने की बलवती इच्छा थी। उसने एक शुभ दिन पर श्रीमती सर्वज्ञा से प्रश्न किया तो उस गृहिणी रत्न ने उत्तर दिया:--

पापमचोक्षमवलेहिनीं चव्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभि भूतां सततं शयानामेवं विधां तां परिवर्जयामि॥

"ओ मेरी बहन! मेरी सफलता का कारण सुन। मैं पाप करने वाली, अपवित्र मन वचन तन वाली, सब कुछ खाद्य अखाद्य चाट लेने वाली, सहन-शीलता को खो बैठने वाली, लड़ाई-झगड़े में चाह रखने वाली, हमेशा नींद में झूमने वाली और पैर पसार कर पड़ी रहने वाली को दूर से ही छोड़ देती हूं। ऐसी कुलक्षण वाली स्त्री का मैं कभी सङ्ग नहीं करती।"

पैशुन्ये नाभिवर्तामि न वक्ष्यामि मनोगतम्।
अद्वारे नच तिष्ठामि न चिरं कथयामि च॥

"मैं कभी दूसरों की चुगली नहीं खाती। मनोगत भावों पर व्यर्थ में प्रकाश नहीं डालती। जिस दर्वाजे पर खड़ी रहने से मेरे या दूसरों के आचार में कलङ्क लगने की सम्भावना

होती है, वहाँ खड़ी नहीं होती। अगर अपनी सखियों से बात चीत करती भी हूं तो लम्बा-चौड़ा नहीं बोला करती।"

असद्धा हसितं किंचिदहितं वाऽपि कर्मणाम्।
रहस्यमरहस्यं वा वदामि न कदाचन ॥

"मैं कभी दूसरों को मोह जाल में फँसाने वाली झूठी हँसी नहीं हँसती। किसी के कर्मों के बारे में अहित वचन नहीं बोलती। लुक छिप कर यह खुल कर भी मैं कभी अनिष्ट शब्दों को नहीं बोलती।"

देवतानां पितृणां च ब्रह्मणानां च पूजते।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रु श्वशुर कर्मणि ॥

"मैं प्रमाद या आलस न करती हुई हमेशा विद्वान् गुरुजनों माता-पिता, मातामह-पितामह आदि पितरों और ज्ञानी ब्राह्मण महानुभावों के आदर-सत्कार में और सास-ससुरों की सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती हूं।"

इन श्लोकों पर व्याख्या की कोई जरूरत नहीं है। आजकल घर-गृहस्ती में जो असन्तोष की भावना दौड़ती प्रतीत होती है, उसकी तह में, कौन नहीं जानता कि हमारी बहू-बेटियों के अज्ञान का बहुत भारी हाथ है? हमारी बहू-बेटियां और गृह-मातायें बहुधा अपने बचे हुए समय का उपयोग पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसाओं के लंबायमान वाक्यों को बोलकर करती हैं। विवाहादि शुभ-संस्कार किसी मित्र के यहां हो तो नव दम्पतियों के मंगल के लिये परमात्मा से प्रार्थना करनी तो दूर रही, किसी गरीब के निष्कल प्रेम भाव से दिये गये उपहार पर उपहास की

झड़ियां लग जाती हैं। उपहास की और कोई सामग्री न मिली तो अचानक भोजन में नमक की थोड़ी सी कमी हो गयी हो तो उस छोटी सी घटना को लेकर, गृहपति के नमक बचा कर उन पैसों से महल बनवाने की रोचक कहानियां कही जाती हैं। हंसने को तो हंस सकते हैं, लेकिन इस प्रकार की गप्पें हमारी मातृ जाति के घोर पतन की द्योतक हैं। अनुभवी गृहस्थ और गृहिणियां जानती हैं कि इस प्रकार की व्यर्थ बातों और गप्पों के कारण कितने सुखी गृह दुःख के सागर बन जाते हैं। इस लिये हरेक माता को संयत जिह्वा के उपयोग का पाठ सबसे पहले पढ़ लेना चाहिये ताकि बच्चों में भी मधुर मधुर बोलने की और अपवाद और पर-निन्दा से बचने की आदत पड़ जाय। प्रेम प्रचार ही माता का सहज-स्वभाव है। उसे टूटे दिलों को मिलाना है; न कि मिले दिलों को तोड़ना। अतः माता का हरेक आचरण प्रेम और सेवा भाव से सन्तुलित और ओत-प्रोत होना चाहिये।

माता को संसार की अधिष्ठात्री कहा गया है। पृथ्वी माता भीष्म-द्रोण, राम-लक्ष्मण, अर्जुन-अभिमन्यु, प्रताप-शिवा जी जैसे पुरुष-सिंहों को पाकर फूली नहीं समाती, बाल्मीकि-व्यास गौतम-कणाद, पिप्पलाद-याज्ञवल्क्य, बुद्ध-महावीर, जरदुश्त-ईसा, दयानन्द-गांधी जैसे मानव कुल गौरव महा-रत्नों को अपनी गोद में फुदकते देखकर प्रेम के आँसू बहाती है। लेकिन उन मानव मुकुट मणियों को उस रूप में बनाकर पृथ्वी-माता की गोद में डालने वाली उदार हृदया दान शील हमारी यही मनुष्य-माता है सचनुच मातृ शन्ति का महत्व कितना बड़ा है। ऐसी माता का आचार-विचार ऊँचे दर्जे का होना ही चाहिये।

माता बच्चे को चाहे शेर बना सकती है, चाहे गीदड़। अतः माता संसार की निर्मात्री है। मातृ-शक्ति के सामने सभी के सिर झुक जाते हैं।

इतना महत्व रखने वाली माता सचमुच ब्रह्मा है। ब्रह्मा कहते हैं बृहत् या बड़े को। यद्यपि हिन्दी में आत्मा को स्त्रिलिङ्ग मानने की प्रयोग प्रथा है, संस्कृत में वह पुल्लिङ्ग है। आत्मा प्रकृति से बड़ा होने के कारण ब्रह्मा है। चारों वेदों के ज्ञाता को भी 'ब्रह्मा' कहते हैं। वेद भगवान् स्पष्ट रूप में स्त्री या माता को ब्रह्मा कह कर भी पुकारते हैं। सुनिये:—

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर ।
माते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥

[ऋग्वेद मं०—८, सूक्त ३३, म०—१९]

"हे नारि! नीचे की ओर, भूमाता की तरफ आँखें किये हुए, गम्भीरता से, मन्द मन्द पदगति से चला कर। आँखें उठा कर इधर उधर को न देखा कर। तेरे वे अङ्ग और उपाङ्ग, जिन के दर्शन से द्रष्टा और दृष्टि दोनों के पतित होने की आशङ्का है, कभी दिखाई न दें। उन्हें समुचित वस्त्रों से ढांपे हुए रख। क्योंकि ब्रह्मा ही, अर्थात् आत्मा महान् ही स्त्रीरूप में प्रकट हुआ है।"

ब्रह्मा, बड़ा होने के कारण पूजनीय है। उसी तरह नारी भी पूजनीया है। जहाँ पूजक अपनी सद्भावना का परिचय देता है, वहां पूज्य का भी यह कर्तव्य है कि वह अपने आचरण से अपनी पूज्यता का स्पष्ट परिचय दे। गुरु की सेवा शुश्रूषा तो शिष्य लोग दिन रात हृदय के अन्तस्तल से करते रहें, और वह

और वह गुरु अपने गुरुपन को तिलाञ्जलि देकर नशेबाजी, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में पड़ा रहे, तो दुनियां उन शिष्यों को मूर्ख ही कहेगी। इसी तरह पूजनीय नारी जाति को भी अपनी पूजनीयता का ख्याल रहना चाहिये और अपने जीवन को इस प्रकार पवित्र, सरल और आदर्श रखना चाहिये, कि नर-जाति उससे उचित फायदा ही उठाये, अनुचित फायदा कभी न उठा पाये।

प्रकृति नियम ही है कि नर नारी की ओर खिंचता है और नारी नर की ओर। इस नियम को परमात्मा ने इसलिये बनाया है कि कठोरता और कोमलता का समुचित संयोग से सृष्टि में संपूर्णता आ जाय। लेकिन, इस नियम के दुरुपयोग का नाम लम्पटता या व्यभिचार है, इस बात को भी भूलना नहीं चाहिये। इस कुदरती खिंचाव को छाया में नर समाज नारी परस्त और नारी समाज नर-परस्त बन जाय और इस आपसी गुलामी को ज़बरदस्त बनाने के लिये दोनों फैशन परस्ती की सुनहरी जंजीर को काम में लायें, तो मानव-जाति के सत्या नाश की घड़ी कुछ दूर नहीं रहती।

नारी की बुरी आँखों से बचने के लिये नर को और नर की कामी आँखों से बचने के लिये नारी को एक उत्तम व्रत लेने का आदेश आर्य ऋषि-मुनि कर गये हैं। और वह व्रत है—सरल जीवन का। अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध कहावत है—"Simple livi-ig and High Thinking" इसका भावार्थ यह है कि जिस का जीवन सरल होता है, उसके विचार उच्च होते हैं। यह एक ध्रुव सत्य है। क्योंकि आडम्बर एक बिल्कुल अस्वाभाविक, अनावश्यक और शक्ति नाशक चीज़ है। अस्वाभाविक इसलिये

कि प्रकृति खुद आडंबर हीन है। अनावश्यक इसलिये कि बिना आडम्बर के भी मनुष्य चैन से रह सकता है। और शक्ति नाशक इसलिये कि आडम्बर रचने में नर और नारी की मानसिक, आर्थिक और सामयिक शक्तियों का दुर्व्यय होता है। आडम्बर या फैशन करके नर और नारी अपने से भिन्नलिङ्ग जीव के मन को उद्विग्न करने के सिवाय और कुछ प्राप्त नहीं करते। हाँ, खोते बहुत कुछ हैं। रुपये, पसे और समय तो जाते ही हैं. इससे बढ़कर हानि उन की मानसिक शक्तियों की होती है। फैशन करना आखिर क्या है ? अपने से भिन्नलिङ्ग जीव की आँखों में चुभनाऔर अपने और उसके मन को उत्तेजित करना है। जिन की मानसिक शक्ति कुण्ठित है, उनके दिमाग में कौन से उच्च विचार आ सकते हैं ? और जिनके विचार ही प्रशस्त नहीं है, उनके आचारण कैसे उत्तम होते हैं ? फिर सदाचार भ्रष्टों के पतन में किस को सन्देह है ?

उपनिषदों में एक वाक्य आता है—"यन्मनसा ध्यायेति तद्वाचा वदति। यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।" इसका मतलब यह है कि मनुष्य मन में जो सोचता है, उसी को वाणी से जाहिर करता है। जिसे वाणीद्वारा प्रकट करता है, शरीर से वही कुछ करता है। इस से स्पष्ट है कि मन या विचारों का कितना उच्च स्थान है। बुरे विचार वालों, बुरे और गन्दे शब्द ही बोलेगा और नापाक जिन्दगी ही बितायेगा। इसलिये विचारों को शुद्ध रखना चाहिये। विचार शुद्धि के लिये फैशन या आडम्बर से मुख मोड़ कर सादगी को अपनाना चाहिये। ठीक ही कहा गया है : –

"यादृशीं भावनां कुर्यात्सिद्धिर्भवति तादृशी"

अर्थात् "भावना या विचार जिस तरह के हों, फल भी उसी तरह के मिलते हैं।" मन में खोटे विचार लाओ तो खोटा फल ही लो। मन में सुन्दर, सरस और मधुर भावनाओं को पनपने दो तो वैसा ही मीठा फल चख लो। इसलिये, हरेक माता को सरल और पवित्र जीवन को अपना कर सदा उच्च विचार को मन में उत्पन्न करते रहना चाहिये, जिसका प्रभाव सन्तानों पर पड़ना अनिवार्य ही है।

आहार-नियम

अभी अभी हम सरल जीवन के बारे में वर्णन कर रहे थे। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध जब तक बना रहता है, अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक की जो काल की अवधि होती है, उसे जीवन कहते हैं। इस जीवन में आत्मा का जितना महत्व है, उतना ही महत्व शरीर का भी है। शरीर की वृद्धि के साथ ही बुद्धि की वृद्धि होती है। बुद्धि विकास से ही आत्म-विवेकोदय, होता है। आत्म विवेक, आत्म शुद्धि, आत्म विकास, धर्मज्ञान, प्रभुसाक्षात्कार आदि की प्राप्ति में शरीर बहुत ही बड़ा सहायक है। उपनिषद् में कहा भी गया है :—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशःसम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्निरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। तस्मात्पुरुषो ह्यन्नरसमयः॥"

[तैत्तिरीयो पनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक—१.]

इस का भावार्थ यह है:—उस अव्यक्त, या यहाँ भी विद्यमान प्रभु से आकाश बना। आकाश से वायु। वायु से अग्नि। अग्नि से जल। जल से पृथिवी। पृथिवी से औषधियां। ओषधियां से अन्न। अन्न से वीर्य। वीर्य से पुरुष का शरीर। इस कारण से यह शरीर अन्न रसमय है। अन्न से नर नारियों के वीर्य-रज उत्पन्न होते हैं और उन्हीं के संयोग से गर्भ स्थिर

होता है। यही गर्भ पिण्ड, माता के खोये हुए अन्न से बढ़ता हुआ शरीर-रूप पूर्णता को प्राप्त करता है। मातृ-गर्भ से बाहर आने पर भी कुछ काल तक तो शिशु-शरीर माता के स्तन्य दुग्ध से ही बढ़ता है, फिर गाय-भैंस के दूध से या अन्य धान्य पदार्थों से बढ़ता है। मतलब यही है कि शरीर का बनना और बढ़ना अन्न और रस के सहारे ही हैं। अन्न और पेय नहीं मिले तो शरीर का बढ़ना तो दूर, सूख कर काठ हो जाता है और श्रीमान् जीवात्मा जी को अन्यत्र चला जाना पड़ता है। इसीलिये उपनिषदों में "अन्नं ब्रह्मेत्युदासीत" आदि उपदेश मिलते हैं। अन्न तो जीवन की सर्व-प्रथम आवश्यकता है।

लेकिन, मनुष्य योग्य अन्न का स्वरूप भी जानना चाहिए। अन्न दो प्रकार के होते है, पशु भोजन और मनुष्य भोजन। पशु भोजन में विवेक के लिये कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि पशुओं की भोग योनि है। पशु पेट भरना ही जानते हैं, हिंसा-अहिंसा, पाप-पुण्य आदि बातों से उन को कोई काम नहीं। परन्तु, मनुष्य विवेकी होता है। हिंसा-अहिंसा, धर्म-अधर्म आदि विषयों में सोच-विचार कर मनुष्य अपना भोजन चुनता है। इसलिये मनुष्य-भोजन के बारे में सोचते हुए, हमें इन बातों पर ध्यान देना चाहिये:—

१. भोजन और पान शरीर की रक्षा और वृद्धि के लिये होते हैं।

२. भोजन और पान का मन और आत्मा पर भी प्रभाव पड़ता है।

३. भोजन और पान किसी के दुःख का कारण बन नहीं पाये।

पहली बात बिलकुल स्पष्ट है। दूसरी बात पर जरा प्रकाश डालना आवश्यक है। इस में आहार-शुद्धि की ओर निर्देश है। यह उपनिषद्वाक्य भी प्रसिद्ध ही है:—

"आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।"

[छान्दोग्य उपनिषद्]

"आहार शुद्धि से सत्व शुद्ध हो जाता है। जब सत्व की शुद्धि हो जाती है, तब स्मृति अर्थात् स्मरण-शक्ति दृढ़ हो जाती है।" यहां सत्व विचारशील बुद्धि को कहा गया है। आहार की पवित्रता पर बुद्धि की पवित्रता निर्भर है और बुद्धि की पवित्रता पर आत्मा की पवित्रता निर्भर है। इस लिये आहार की पवित्रता पर ध्यान देना चाहिये।

आहार की पवित्रता क्या है, इस बात पर सोचते २ हम तीसरी बात के घेरे की सीमा में पहुंच जाते हैं। पवित्रता कहते हैं निर्मलता को। जिसमें मल न हो, वह पवित्र है। और मल भी दो प्रकार का होता है, एक आत्मिक और दूसरा भौतिक। आत्मिक मल को पाप कहते हैं और भौतिक मल को मैल या गन्दगी। इतने विवेचन के पश्चात् शुद्ध आहार के दो लक्षण हमें नजर आते हैं:—

१. जिस की प्राप्ति, संस्कार और भक्षण में पाप नहीं तो हो, वह शुद्ध आहार है।

२. जिसके खाने से रोग, दुःख आदि प्राप्त न हो, वह शुद्ध आहार है।

असल में दोनों लक्षण एक ही लक्षण के दो अविभाज्य अंग हैं। दोनों मिल कर शुद्ध आहार का स्वरूप दिखाते हैं। अब पहले लक्षण पर विचार करें। सभी जानते हैं कि हिंसा

से बढ़ कर कोई पाप नहीं है। दूसरे जीवों को मन, वचन या कर्म से दुःख देना हिंसा है। हरेक मनुष्य अपनी जान को सब से प्यारा समझता है, उसी तरह उसे जानना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी अपनी जान को प्यार करता है और किसी दूसरे से अपना गला कटाना पसंद नहीं करता। व्यास महर्षि ने धर्म की बड़ी लम्बी चौड़ी व्याख्या की, फिर भी आत्म-ग्लानि बनी रही। आखिर लाख की एक बात कह डालीः—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

"सुन लो धर्म सार। सुन कर मनन कर लो। अपने को जो अच्छा न लगे, उसे दूसरों को न करो।" योगीराज श्री कृष्ण ने गीता में इसी बात को दूसरे शब्दों में समझाया हैः—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

[गीता, अध्याय--६, श्लोक-३२]

"जो सब को अपनी ही तरह मान कर, सब के सुख में अपना सुख और सब के दुःख में अपना दुःख मानता है। वह परमयोगी माना जाता है।" सुख हो या दुःख, उसका अनुभव करने को जैसा होता है, वैसा ही सभी प्राणियों को होता है-यह समझ ही आत्मौपम्य दृष्टि हैं। यही धर्म-सर्वस्व है। महात्मा मनु ने भी धर्मलक्षण की व्याख्या करते हुये कहा हैः—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

[मनुस्मृति, अध्याय-२; श्लोक-१२]

"वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे, यह साक्षात् धर्म का चतुर्विध लक्षण है।" यहां भी अपनी आत्मा को जो प्रिय लगे, वही अन्य आत्माओं को भी प्रिय लगता है, इस बात पर ध्यान देना चाहिये। भला, एक पागल को छोड़ कर ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा जो यह चाहता हो कि कोई उसको जली कटी सुनाये, धोखा दे, उसके रुपये-पैसे, अन्न-वस्त्र, घर-बार बाल बच्चे माता पिता, भाई-बहन और पत्नी को छीन ले, उसके प्रिय बन्धुओं और खुद उसके गले पर छुरी चलाये ? कोई भी पुरुष, चाहे वह हज़ारों मूर्खताओं का मालिक ही क्यों न हो अपना अहित कभी स्वप्न में भी नहीं चाहता। तो फिर और प्राणी भला यह कब चाहते होंगे कि कोई आकर मेरे बच्चों की और मेरी गर्दन पर उस्तरा गुज़ार कर सिर को धड़ से उतार दे ? कसाइयों को नज़दीक आते देखकर, करुणा और भय भरी दृष्टियों से उनकी ओर निहारते हुए हृदय विदारक क्रन्दन करते हुए दूर भागने के लिए हाथ पैर मारने वाले असहाय मूक पशुओं के दर्दनाक नज़ारे को देख कर भी यह कहने वाला राक्षस इस धरती पर कौन होगा कि ये मरना चाहते हैं, इनको जान प्यारी नहीं है ? महात्मा मनु ने कहा भी है:—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्म-सुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव नक्वचित्सुखमेधते ॥

[मनुस्मृति, अ० ५ श्लोक ४५.]

"अपने सुख के लिये जो अहिंसक-प्राणियों की हिंसा करता है। उसे न जीते हुये सुख मिलता है, न मरने पर।" इन प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध हो गया कि हिंसा सदा धर्म के

विरुद्ध है, अतः पाप है। शुद्ध आहार के पहले लक्षण में हमने लिखा है कि जिसकी प्राप्ति, संस्कार और भक्षण में पाप न हो, वह शुद्ध आहार है। अब इस लक्षण की कसौटी पर मांसाहार को कस कर देखिये। मांस मिलता भी कैसे है? देखिये:--

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

[मनुस्मृति, अ—७, श्लोक—४८.]

"प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस हाथ नहीं लगता। और प्राणियों की हत्या सुखकारक नहीं है। इसलिये मांस छोड़ देना चाहिये।" स्पष्ट है कि मांसाहार की प्राप्ति में घोर पाप है। कोई कोई यह कहते दिखाई देते हैं कि भाई, हम तो किसी प्राणी का गला नहीं काटते। कोई काटता है, कोई लाता है, कोई पकाता है और हम खा लेते हैं। इसमें दोष ही क्या है? लेकिन यह कोई दलील नहीं है। मनु महाराज खुद उत्तर देते हैं:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

[मनुस्मृति, अ० ५, श्लोक—५१.]

"पशु को मारने की अनुमति देने वाला, पशु के अंगों को अलग २ करने वाला, पशु को मारने वाला, उस पशु के मांस को बेचने वाला, उसे खरीदने वाला, उसे पकाने वाला, उसे परोसने वाला, और उसे खाने वाला—वे सभी पापी हैं।" इस नामावली में मारने की अनुमति देने वाला, मांस को पकाने वाला और खाने वाला—इन के भी नाम गिनाये गये हैं "न रहे बाँस, न बजे बांसुरी" वाली कहावत जरा याद कर लो।

मांसाहारी मौन वाणी से जानवर को मारने की सलाह देता रहता है। कसाइयों का काम तभी चल निकलता है, जब माल की मांग हो। और इस माल की मांग तो निरामिष भोजियों की तरफ़ से आ नहीं सकती। इसलिये प्रत्येक मांसाहारी, खुद पशुवध न भी करे, तो भी निस्सन्देह हिंसा का भागी है। पापी भी है। यह कहने से भी पाप से बचना सम्भव नहीं है कि हमारे न खाने से भी पशु तो कटते ही रहेंगे, क्योंकि खाने वाले हज़ारों लाखों हैं। इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि इकाई से ही संख्या बनती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य समझ ले तो अधिकांश भी पाप न करे। धर्म का पालन करना हरेक का अनिवार्य कर्तव्य है। दूसरा नहीं करता है तो वह तुम्हारे धर्म का आचरण न करने के पक्ष में कोई दलील नहीं है। चोर यह कह कर कि मैंने चोरी नहीं की, क्यों कि दूसरे भी चोरी किया करते हैं, न्यायाधीश के दिये जाने वाले दण्ड से कभी बच नहीं सकता। इस तरह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि मांसाहार की गणना कदापि शुद्ध आहार में नहीं हो सकती। भगवती श्रुति पुकार पुकार कर हमें सचेत कर रही है:—

द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्।

[यजुर्वेद, अ०—१२, मं—३२]

"हमारे दुपाये और चौपाये पशु सभी कुशल पूर्वक जीवित रहें।"

मा मा हिँसीत्। [यजुर्वेद—अ० - ३२, मं—३]

"कोई हिंसा न करे, हिंसा न करे"

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।

सहमनं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम्॥

[अथर्व कां०-१७, मन्त्र--४]

अर्थात् "मैं कभी द्वेष को न सहने वाले, फिर भी सहनशील, वीरातिवीर, मित्र भावी, प्रशान्त, प्राप्त सुख, व्यापक, सर्वैश्वर्यवान् पूजनीय परमात्मा की उपासना करता हूं, ताकि मैं पशुओं का प्यारा बन जाऊं।"

तो एक आर्य जहां अन्य हजारों प्रार्थनायें करता है, वहां जानवरों का प्यारा बनने की भी हार्दिक इच्छा प्रकट करता है।

इस से सिद्ध हो गया कि मांसाहार का परित्याग ऐच्छिक या वैकल्पिक नहीं, परन्तु विधिरूप ही है। ऐसा नहीं कह सकते कि उसे चाहे तो छोड़ सकते हैं, बल्कि ऐसा कहना चाहिये कि उसे किसी भी हालत में आप को छोड़ना ही होगा।

खैर; मांसाहार तो उठ गया। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि एक मांस को छोड़ कर जो चाहे, खा लो। वेद में अन्न विषयक यह प्रार्थना है:—

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥

[यजुर्वेद, अ--११, मन्त्र -८३]

हे सारे अन्नों के अधिपते! हमें नीरोग और बलप्रद अन्न प्रदान करें। अन्नदाता भी बढ़े। हमें और हमारे दुपाये चौपाये पशुओं को भी बल प्रदान करो।

वेदभगवान् अन्न के अन्दर आरोग्य प्रदत्व और बलप्रदत्व-इन दो गुणों के होने की आवश्यकता बतलाते हैं। इसकी

महत्ता को हृदयाङ्कित करके हम शुद्ध आहार के द्वितीय लक्षण में लिख आये हैं कि जिसके खाने से रोग दुःख आदि प्राप्त न हों, वह शुद्ध आहार है। मांसाहार का त्याग करने मात्र से आहार सिद्ध नहीं हो जाता। श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज भगवद्गीता में सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के आहारों का वर्णन करते हैं :—

आयुः सत्व बालारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रिया॥

[गीता, अ०–१७, श्लो–८]

'वे आहार, जो कि आयु, मननशक्ति बल, आरोग्य, सुख, प्रीति-इनको बढ़ाते हैं, जो रसीले, चिकने, ठोस, और आकर्षक होते हैं, सात्विक लोगों के प्यारे हैं।"

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्ण रूक्षाविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामय प्रदाः॥

[गीता, अ० -१७, श्लोक–९]

"जो कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, चटपटे, प्यास बढ़ाने वाले हैं, क्लेश और शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले हैं वे आहार राजस लोगों के प्रिय हैं।"

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोपानं तामसप्रियाजम्॥

[गीता, अ० १७ श्लो–१०]

"जो कल का बनाया हुआ, सूखा हुआ, बदबूदार, जूठा और गन्दा भोजन है वह तामस लोगों का प्यारा है।"

आर्य तो सात्विकगुण प्रधान होते हैं उनके आहार राजस

या तामस नहीं होने चाहियें। आयु, बुद्धि, बल, नीरोगता, सुख प्रेम आदि बढ़ाने वाला पवित्र सात्विक आहार ही आर्यों के योग्य है। नशा लाने वाले पदार्थ भी छोड़ने योग्य हैं। गरीबों की आँखों में आँसू बहवा कर, उनको दुःख दे कर, अन्याय का अधर्म के रास्ते कमाया हुआ और चोरी या रिश्वत के द्वारा प्राप्त किया हुआ अन्न भी मांसाहार के समान पापमय है। वह भी हिंसा से प्राप्त होने से मांसाहार की तरह ही आत्मघातक है। इसलिये छोड़ने योग्य है।

खाये हुये अन्न का असर मन और आत्मा पर ज़रूर पड़ता है। पाप से कमाया हुआ, हिंसा से उत्पन्न रोगप्रद अन्न खायें तो हमारे मन और आत्मा भी पापी, हिंसक और रोगी होजाते हैं। धर्म से कमाया हुआ पवित्र सात्विक बलप्रद भोजन करें तो हमारा मन और आत्मा भी धार्मिक, पवित्र, सात्विक और बलवान् हो जाते हैं।

यह नहीं कि मनुष्य आहार-विषय में अच्छा-बुरा नहीं जानते। जानते हुए भी एक अजीब इन्द्रिय के दास होने के कारण, अपनी बुद्धि-शक्ति को बुरे को अच्छा सिद्ध करने में खर्च कर देते हैं। यह श्लोक मनन करने लायक है:—

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

अर्थात्, "अन्य इन्द्रियों को वश में कर लेने पर भी पुरुष तब तक जितेन्द्रिय नहीं बनता, जब तक कि वह जिह्वा को जीत न ले। अगर जिह्वा जीती गयी तो सब इन्द्रियें जीतीं गयी।"

आंग्ल भाषा में भी ऐसा ही कहा गया हैं; Hdeson says "If you can conquer your tongue only, you are sure to conquer your whole body," यदि तुम अपनी

रसना शक्ति को विजय कर लो; तो तुम सर्व शरीर को अवश्य वश में रख सकते हो, "As a man eateth, so he becometh" जैसा मनुष्य खाता है वैसा ही बन जाता है।

सचमुच, जिह्वा एक चपल वस्तु है। इस पर जिसने अधिकार न किया। उसका ब्रह्मचर्य भी स्थिर नहीं रह सकता। कई मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि शरीर की वृद्धि या क्षय में जिह्वा का प्रबल हाथ होता है। जिह्वा एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम प्रलोभन का जाल समझते हैं। इस जाल को जिसने फाड़ दिया वह ब्रह्मचर्य के भव्यगृह में प्रवेश करेगा। जो इसमें पड़ कर उलझ गया, उसका ब्रह्मचर्य मिट्टी में मिल गया। चटपटी, उत्तेजक, कामवासनोद्दीपक वस्तुओं को देखकर लालायित होना जिह्वा का स्वाभाव है। उसको दबा कर सात्विक भोजन ही जो करेगा, उसका ब्रह्मचर्य स्थिर रहेगा। जो जिह्वा को दबा नहीं सकेगा, वह उन हानि कारक चीजों को खा जायगा, जिससे नसों में उत्तेजना फैल जायेगी। नसों का उत्तेजित होना ब्रह्मचर्य के लिए अच्छा नहीं है। उससे शक्ति का दुर्व्यय होता है। जो ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं करता, उसके बल आदि के क्षीण होते देर नहीं लगती। इस लिए जिह्वा का जीतना बहुत ही आवश्यक माना गया है।

माता अपने बच्चों में आर्यत्व, मनुष्यत्व पैदा करना चाहती है तो इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। देश की सम्पत्ति उसके सोना चांदी आदि धातुओं का गेहूँ, धान आदि धान्यों में निहित नहीं है, परन्तु उसके बच्चों में छिपी पड़ी है। उसे सम्पत्ति को जो कि किसी भी राष्ट्र उत्थान या पतन का प्रथम कारण है, बढ़ाना या घटाना माता का ही काम है। माता चाहे तो अर्जुन

और अभिमन्यु, भीष्म और परशुराम, श्रीराम और श्रीकृष्ण जैसे महाबाहू उदारमना विशालहृदय सद्गुणसागर आदर्श पुरुष-पुङ्गवों को जन्म दे सकती है; चाहे लम्बोदर रिक्तमस्तिष्क निस्तेजवदन निरूपयोग अन्नसंहार कार्यव्यग्र भूभार रूप महा-कुलक्षणी मानवशरीरधारी पशुओं को। पहली अवस्था में वह राष्ट्र सम्पति को बढ़ा कर महान् उत्थान की आराध्य देवी बन जाती है, दूसरी में राष्ट्र की सर्वनाश कारी प्रलय मचाने वाली मृत्युस्वरूपिणी महाकाली। अतः माता का कर्तव्य है कि स्वंय सात्विक आयु बल आरोग्य सुख देने वाला भोजन करे और बच्चों को कराये, ताकि अपने और उनके मन और आत्मा पर उत्तम प्रभाव पड़े और श्रेष्ठ मनुष्य बन कर समाज और राष्ट्र के उत्थान के कारण बनें।

इस आहार के बारे में और एक आवश्यक बात याद रखनी चाहिये। कई मातायें यह सोचा करती हैं कि बच्चों को अधिक खिला देने से वे अच्छी तरह ताकतवर बन जायेंगे और कम खिलाने से वे कमज़ोर हो जायेंगे। उनका यह भी विचार है कि ज्यादा खिलाने में ही मां की शान है और कम खिलाना कंजूसी है, इलसिए मां की बेइज्जती है। लेकिन यह ख्याल ग़लत है। अच्छे भोजन को नियमपूर्वक कम भी खिलाये तो बच्चे बढ़ जाते हैं और अधिक खिला देने से बच्चे बीमार हो जाते हैं। एक नीतिकार का वचन है।

अति रूपेण वै सीता अति गर्वेण रावणः।
अति दानाद्बलिर्बद्धो अति सर्वत्र वर्जयेत॥

इसका भवार्थ यों है:—अति सुन्दरता के कारण सीता माता हरी गयी। बहुत घमण्ड करके रावण नष्ट भ्रष्ट हुआ।

अति दान दे कर राजा बलि ही बन्धन में पढ़ गया। इसलिए सभी जगह अति का त्याग करना चाहिये।

अति का परित्याग और मध्यम मार्ग का ग्रहण एक बहुत अच्छा आदर्श है। दोनों ओर से अति का ग्रहण हानि कारक है। यह ठीक है कि बहुत खाने से बदहज़मी आदि बीमारियों के आक्रमण से, खाया हुआ अमृत भी विष तुल्य हो जाता है। लेकिन इस बात पर भी ग़ौर करना चाहिये कि खिलाना बहुत ही कम कर दिया जाय और बच्चों की खायी हुई ताक़त को फिर पैदा करने के लिये जिस पैमाने पर खुराक चाहिये, वह भी न दिया जाय तो बच्चे हड्डियों के पिंजड़े ही बन कर, शीघ्र काल की कराल गाल में पड़ कर चकनाचूर हो जायेंगे। इसलिये, दोनों ओर से अति से बचना चाहिये। महात्मा मनु ने कहा भी है:—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

[मनुस्मृति – अ० २, श्लोक—५७.]

अर्थात् अति भोजन बीमारियों की जड़ है। आयु को घटाने वाला है। सुख की जड़ पर कुल्हाड़ा मारने वाला है। अच्छाई को दबाने वाला है। दुनियां में दुश्मनी पैदा करने वाला है। इसलिए बहुत खाना नहीं चाहिये।

मनु के शब्द बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसमें हर एक बात के लिये इतिहास साक्षी है। एक महात्मा ने कितना अच्छा कहा है:—

यात्रार्थं जीवन येषां सन्तानार्थं च मैथुनम्।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यति तरन्ति ते॥

अर्थ :--जो अपना जीवन, जीवन-यात्रा को सरलतया चलाने के लिए समझते हैं। जिनके लिए स्त्री-पुरुष संयोग सन्तानोत्पति के लिए होना है, जो अपनी वाणी सत्य बोलने के लिए लगाते हैं वही वास्तव में कष्टों से पार हो जाते हैं।

जीवात्मा एक यात्री है। यह शरीर रूपी मोटर में बैठकर यात्रा कर रहा है। इस मोटर को चालू रखने के लिये अन्न रूपी पैट्रोल चाहिये। मोटर में पैट्रोल ही पैट्रोल भर दिया गया तो आग की एक चिनगारी क्यों, मशीन की गरमी ही ज़रा ज्यादा हो गयी, तो सारी मोटर जलकर राख हो जाय। ठीक इसी तरह, शरीर रूपी मोटर में भी आहार-रूपी पैट्रोल की ज़रूरत से ज्यादा भर दिया जाय तो रोग-रूपी आग का प्रकोप होकर वह भी राख का ढ़ेर हो जाय। इसलिये, मोटर को चलाने के लिये जैसे आवश्यक प्रमाण में पैट्रोल दिया जाता है। वैसे शरीर को चलता रखने के लिये आवश्यक मात्रा में आहार लिया जाय तो अत्यन्त कठिन दुःखों से भी हम पार हो सकते हैं। "Eat to live, but not live to eat."—जीवित रहने के लिए खा, पर खाने के लिए जीवित न रहे।"—यह एक अत्युत्तम आदेश है।

परम--पिता परमात्मा ने सन्तानोत्पादन के लिए स्त्री और पुरुष—ये दो जातियां बनायी हैं। परस्पर प्रेम और आकर्षण बना रहे. इस उद्देश्य से मैथुन में थोड़ा बहुत आनन्द भी रखा। परन्तु मैथुन का उद्देश्य इस आनन्द का लूटना नहीं है, परन्तु सन्तानोत्पादन है। जो स्त्री और पुरुष, माता और पिता बनना नहीं चाहते, उनको मैथुन करने का अधिकार ही नहीं है। मैथुन में जो क्षणिक सुख या आनन्द आता है, उसका मूल्य

बहुत अधिक है--यह बहुत से नर-नारी भूल जाते हैं और अति सम्भोग से अपने शरीर, मन और बुद्धि का क्षीण बनाकर अतिशय दुःख के भागी बनते हैं। परन्तु जो केवल सन्तान लाभ के लिए मैथुन करते हैं, वे महान् से महान् दुःखों पर भी विजयी हो जाते हैं।

बोलने की लत सी कुछ लोगों को पड़ जाती है। "मुख मस्तीति वक्तव्यम्"—"जीभ है तो बोलते जाओ।"—यह उन का सिद्धांत है। सत्य—असत्य की उनको कोई चिन्ता नहीं। ऐसे लोगों पर औरों का विश्वास ही नहीं बैठता। परन्तु जो ऐसे होते हैं, जो सत्य को प्रकट करने के लिये मुंह खोलते हैं, उनकी मान--प्रतिष्ठा बनी रहती है।

माता को इन सब बातों पर सोचना चाहिये और अपने बच्चों को भोजन आदि की क्रियात्मक शिक्षा देनी चाहिये।

—o—

विवाह और नारी का महत्व

श्री स्वामी रामतीर्थ भारत के अनमोल रत्नों में से थे। वैदिक धर्म के गुरु गौरव के बढ़ाने में उनका बड़ा हाथ रहा है। वे स्वयं एक विद्वान्, सुशील कौर अध्यात्मक प्रधान महात्मा थे और थे एक विचार शील लेखक। वे भारतवर्ष के उद्धार के लिए निरन्तर यत्नशील रहते थे। उन्होंने अंग्रेजी में "Heart of Rama" नाम की एक पुस्तक लिखी है, जिसमें से हम कुछ उद्धरण देते हैं।

"Truth-consciousness brings it strength and victory. Skin-consciousness-(even if it be Brahman-conscionsness or Sanyas-Consciousness)-makes a Cobbler of you."

"सत्य का अनुभूत ज्ञान बल और विजय लाता है त्वचा-ज्ञान, चाहे वह ब्रह्मानुभूति ज्ञान हो या सन्यासनुभूतिज्ञान-तुम्हें चमार बना छोड़ता है।

"A woman is given the position of an inanimate object in civilised Society, where as man is free in his way, the woman is kept bound hand and foot. She becomes the property of one man and then the other man."

"सभ्य समाज में नारी का स्थान एक जड़ वस्तु का सा माना गया है। नारी हाथ-पांव से बद्ध है, जब कि नर अपनी

इच्छा के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता रखता है। नारी एक के बाद दूसरे नर की सम्पत्ति बनती है।"

It is a great blemish on the face of the civilised society that woman is made a marchantile commodity and a woman is possessed or belongs to a man in the same sense as a tree or a house or money belon s to him."

"सभ्य समाज के मुख पर यह एक भीषण कलङ्क है कि नारी को एक व्यापारिक वस्तु बनाया गया है और नारी पर नर का उसी प्रकार स्वामित्व होता है, जिस प्रकार किसी पेड़, मकान या धन पर।"

"Neglecting the education of women, children and the Labouring classess is like cutting down the very branches that the supporting us, nay, it is like striking a Death-blow at the Roct of the Tree of nationality."

"नारियां, बच्चों और किसानों-मजदूरों की शिक्षा का लिहाज न करना अर्थात् ध्यान न करना या इस ओर से उदासीन होना। ऐसा ही है, जैसा कि उन्हीं शाखाओं को मार गिराना है, जो हमें आश्रय देती हैं। नहीं नहीं, वह जो जातीयता के पेड़ की जड़ पर मौत का प्रहार जमाने जैसा है।"

"Do not say that marriage is opposed to Religion. See what the Real State of Happiness is, what Real self is, as man aspiring to realisation meditates upon true Bliss, Reality, fundamental Principle."

" यह न कहो कि शादी धर्म के खिलाफ़ है। यह देखो कि आनन्द की सच्ची स्थिति क्या है, सच्ची आत्मा क्या है, क्योंकि साक्षात्कारेच्छु मनुष्य सच्चे आनन्द, सत्य और मौलिक सिद्धान्त पर ही ध्यान लगाना है। "

" All marriage relations, brought about by at teachment to the colour of the face, to the outlines of the countanance, to figure, from or personal beauty, end in losses and are very unhappy."

" ऐसे सारे वैवाहिक सम्बन्ध, जो कि मुख के रंग, चेहरे के ब्रह्म स्वरूप, शकल, रूप या व्यक्तिगत सौन्दर्य पर के मोह से किये जाते हैं, हानि में परिणत हो जाते हैं और बहुत दुःखदायक होते हैं। "

" The aim of the husband should be the elevation of the marriege tie, and not money making and the wrong use of family Relations. "

" पति का उद्देश्य विवाह-बन्धन की मर्यादा की वृद्धि होना चाहिये, न कि रुपया पैसा कमाना या पारिवारिक सम्बन्धों का दुरुपयोग। "

इन सिद्धान्तों का भाव यही है कि स्त्री का भी उतना ही महत्व है जितना कि पुरुष का। विवाह का उद्देश्य पुरुष की कामनाओं की तृप्ति नहीं है और नारी और नर का गृहस्थ जीवन में समान स्थान है।

वैदिक धर्म में विवाह को काम तृप्ति का साधन नही माना गया है। वास्तव में विवाह एक धार्मिक संस्था है। एक पवित्र सम्बन्ध है। धर्म में आत्मा का ही सर्वोन्नत स्थान है। इस लिये विवाह को एक आत्मिक संस्था कहा जाय तो भी ठीक है। धर्म का उद्देश्य पूर्णत्व की प्राप्ति है विवाह की एक पूरक क्रिया

है। नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। नर के बिना नारी और नारी के बिना नर अपूर्ण है। इस अधूरेपन को भरने का साधन ही शादी है। नर और नारी का एक जुड़ा हुआ जीवन है, उसमें मुख्य और गौण या स्वामी और दास का प्रश्न ही नहीं उठता। पति पत्नी एक ही शरीर की दो आंखे हैं। एक आंख के दूसरी आंख की दासी होने का सवाल ही वही है।

पति की शक्ति ही पत्नी की शक्ति है; पत्नी की शक्ति ही पति की शक्ति है, इस अवस्था में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना न पति के लिये उचित है, न पत्नि के लिये। इस लिये विवाह को कामसुख का साधन मानने वाला पति अपनी पत्नी की और पत्नी अपने पति की शक्ति का व्यर्थ शोषण करते हैं। विवाह का आदर्श मैथुन नही है; प्रत्युत अपने जीवन को सर्वोपकारत्तम और पूर्ण बनाना है। हाँ उत्तम सन्तान के उत्पादन के लिए परिमित मात्रा में मैथुन सुख लेने की भी शास्त्रों की आज्ञा है, लेकिन वह विषयोपभोग के लिए नहीं है।

वैदिक विवाह मन्त्रों पर गौर करने से कुछ बातें बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं। सबसे पहले पाणिग्रहण मन्त्र को ही लीजिये :—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

[ऋग्वेद, मण्डल-१८० सूक्त-८५६ मन्त्र-३६]

"हे वधू! सौभाग्य की प्राप्ति के लिये मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं, ताकि तू बुढ़ापे तक मुझ पति के साथ रह सके। तेजस्वी न्यायकारी जगदुत्पादक लोकलोकान्तरधारक परमात्मा

और विद्वान् लोगों ने गृहस्थ धर्म की पूर्ति के लिये तुझको मुझे दिया है।

इससे सिद्ध है कि विवाह सौभाग्य को पाने के लिए, परमात्मा को साक्षी मानकर विद्वानों की सम्मति से किया जाने वाला पवित्र कार्य है, जिसका सम्बन्ध जीवन भर के लिये बना रहता है। वह कामोपभोग की सामग्री उपस्थित करने का ठेका नहीं है। आगे जाकर यह और स्पष्ट हो जाता है।

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥

(अथर्व वेद, काण्ड १४, सूक्त १, मन्त्र ५१)

"हे कन्ये! मैं स्वयं ऐश्वर्यशाली होकर तेरा हाथ पकड़ता हूँ। उत्पादनशील हो कर तेरा हाथ पकड़ता हूँ। तू धर्म से मेरी पत्नी है, मैं धर्म से तेरा पति।"

यहां धर्म शब्द पर अधिक ध्यान देना चाहिये। धर्म कहते हैं जीवन को ऊपर उठाये रखने वाले आत्मा के गुण को। जो गुण आत्मा को उद्धृत करते हैं, उन्हींका नाम धर्म है। श्रेष्ठता का व्यवहार ही धर्म है। सदाचार ही धर्म है। पति-पत्नी का सम्बन्ध सदाचार का है। आत्मा, मन, बुद्धि और देह की शक्ति को कुण्ठित करने वाले विषय-भोग को सदाचार का धर्म कहना मूर्खता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विवाह सदाचार के पालनार्थ है, न कि विषय-भोग के लिये।

वैदिक धर्म में पतिव्रत धर्म को बहुत महत्व दिया है। पतिव्रत और पत्नीव्रत ऐसे धर्म हैं कि उनके विना गृहस्थ-धर्म गृहस्थ-धर्म न बनकर व्यभिचार सदन बन जाता है। इन्हीं दो व्रतों में पति-पत्नी की पवित्रता भरी हुई है। गृहस्थाश्रम का

सारा आनन्द इन्हीं दो व्रतों पर निर्भर है। पत्नी का मन, वचन और तन से पति की बन कर रहना ही उसका पतिव्रत है और पति का तन, मन और वचन से पत्नी का बन कर रहना ही उसका पत्नी-व्रत है। वैसे तो पतित हिन्दू समाज में आजकल पतिव्रत का ही गीत गाया जाता है और पत्नी-व्रत का कौड़ी भर भी दाम नहीं माना जाता। अपनी युवती और पति परायणा पत्नी के घर में रहते हुए भी हजारों लाखों पति वेश्या-व्यसन जैसे महापातक पङ्क में लोट पोट होते रहते हैं, लेकिन समाज उनको कुछ भला-बुरा नहीं कहता। वहीं एक युवती का पग— मजबूत वजहों से क्यों न हो--जरा भी डिगा, तो सारा समाज उस अभागिन के पीछे डंडा लेकर पड़ जाता है। लेकिन वैदिक आदर्श कुछ और ही है। शरीर शक्ति और आयु की दृष्टि से पति पत्नी से बड़ा होता है। पत्नी शरीर से अबला है, आयु से छोटी है। इसी लिए, पति को पत्नी का स्वामी कहा जाता है। लेकिन पति का यह स्वामित्व, गुलाम पर किसी जमींदार के स्वामित्व जैसा नहीं है यह स्वामित्व, किसी पुरुष के अपने हृदय या आंख पर के स्वामित्व के जैसा है। यह सोच कर कि मैं अपने हृदय का स्वामी हूँ कोई उस पर वज्रपात करना नहीं चाहेगा। या इस विचार से कि मैं अपनी आंख का मालिक हूँ, कोई उसे फोड़ना नहीं चाहेगा। सचमुच पत्नी पर पति का जो स्वामित्व है, वह सच्ची आत्मीयता है। अपनापन है। इसलिए पति का यह कर्तव्य हो जाता है कि अपनी प्रिय पत्नी के सामने पवित्रता का ऊंचा आदर्श अपनी तरफ से पहले रखे। नीचे दिए हुए विवाह मन्त्र में पति वही करता है:—

अहं वि॑ष्यामि मयि रूपं अस्याः वेददित्पश्यन्मनसा कुलायम्।
न स्तेयमयि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रन्था नो वरुणस्य पाशान्॥
(अथर्व वेद, काण्ड १४, सूक्त १, मन्त्र ५८)

"इस लड़की का रूप मेरे अन्दर प्रविष्ट हो जाय। मैं उसमें प्रविष्ट हो जाऊं, ताकि हमारे कुल का यश बढ़ता रहे। स्वयं क्लेश सहन करते हुए भी मैं निन्दनीय बन्धनों को मन तक से दूर रखूं। कभी भी चोरी का भोग न भोगूं।"

विवाह मंडप में, उपस्थित विद्वानों और बन्धु-बान्धवों की सभा में पति इन वचनों द्वारा प्रतिज्ञा करता है, पत्नी-व्रत का गम्भीर प्रण ही कर लेता है। पति का रूप पत्नी में और पत्नी का पति में घुल मिल कर इस तरह एक हो जाने की मङ्गल कल्पना करता है कि चुरा चुरा कर अपनी पत्नी से भिन्न अन्य स्त्री से सुख प्राप्त करने की भावना तक जागृत न होने पावे। पति, स्वामी, गुरु और रक्षक के नाते अपनी पत्नी को खुद अपने पत्नीव्रत रूप सदाचरण के द्वारा पतिव्रत का पाठ पढ़ाता है।

कौन ऐसी आर्य कुल बधू होगी, जो पतिव्रता महाभागा माता सीता का पुण्यमय शुभनाम स्मरण करके रोमांचित हो कर अपना सिर भक्तिभाव से न झुकाती हो? सीता पति-परायणा थी, पतिगत प्राणा थी, पतिव्रता थी। उसके पूज्य-पिता महाराज जनक ने उसके सामने आदर्श भी यही रखाथा:-

पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा।
इत्युक्त्वा प्रातिपद्राजा मन्त्रपूतं जलं तदा॥
(बाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ७३, श्लोक २८)

"यह मेरी बेटी सीता तेरी सहधर्मिणी है, पतिव्रता और भाग्यशालिनी हैं। छाया की तरह हमेशा तेरा साथ देने वाली है।" भगवती सीता योग्य पिता की योग्य पुत्री थी। उसने अपने पिता की आशाओं पर पानी नहीं फेरा। उसने पतिव्रत धर्म को पचा लिया था। जब अपने पिता के वाक्य को सत्य बनाने के लिये आदर्शपुरुष श्री रामचन्द्र जी महाराज बन जाने पर तैयार हुए, तब भगवती सीता ने कहा था:—

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समान सुखदुःखिनीम् ॥

(अयोध्याकाण्ड, सर्ग २९, श्लोक २०)

"हे पूज्य पतिदेव! मैं तो तेरी भक्त हूँ। तेरी सेवा ही मेरा व्रत है। मैं दीन हूँ। सुख और दुःख को समान मानने वाली हूँ। तेरा सुख ही मेरा सुख है और तेरा दुःख ही मेरा दुःख।" फिर भी श्रीरामचन्द्र ने नहीं माना तो सीता जी ने कहा:—

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसि।
विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम् ॥

(अयोध्या काण्ड, सर्ग ३०, श्लोक २१)

"हे पतिदेव! यदि तू मुझ दुःखिनी को वन न ले जायेगा तो मैं जहर खाकर जान दे दूंगी। मैं शत्रुओं के हाथ न पड़ूं।" आखिर श्रीरामचन्द्र जी को सीता जी की बात माननी पड़ी। अपने पतिव्रत धर्म को मानने के लिये सीता जी राजसुखों से मुख मोड़ कर वन में घूमती रहीं।

फिर सीता जी का अपहरण हो जाता है। दुष्ट रावण

सीता जी को लेजा कर लङ्का में रख देता है और सीता जी को प्रलोभन देते हुये कहता है:—

विजित्य पृथिवीं सर्वां नानानगरमालिनीम् ।
जनकाय प्रदास्यामि तव हेतोर्विलासिनि ।।

(सुन्दरकाण्ड, सर्ग २०, श्लोक १८)

"हे सीते ! नाना नगरों से युक्त समग्र पृथिवी को जीत कर तेरे वास्ते तेरे पिता जनक को दे देता हूँ।" एक ओर अपने पिता को साम्राज्य लाभ था तो दूसरी ओर अपने पति से द्रोह। यह नहीं कि सीता जी अपने पिता से प्रेम नहीं करती थीं। लेकिन उसको अपना पतिव्रत सबसे अधिक प्रिय था। इस लिए उन्होंने रावण को यही जवाब दिया:--

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ।।

[सुन्दर काण्ड, सर्ग २१, श्लोक १६]

"रावण ! मुझे राम से अलग करना वैसे ही असम्भव है, जैसे सूरज से प्रकाश को अलग करना !" फिर जो कुछ हुआ, सो तो हरेक भारतीय नारी को मालूम है।

और ज़रा आगे चलेंगे । कुछ विद्वानों के मत में सीता परित्याग की घटना, जिसका उल्लेख उत्तरकाण्ड में मिलता है, प्रमाण नहीं है। फिर भी उस घटना से जहाँ श्रीरामचन्द्रजी की कठोरता नज़र आती है, वहाँ सीता जी के अटल पति-व्रत का सुन्दर चित्र व्यक्त होता है। लोकापवाद के भय से रामचन्द्र जी ने सीताजी को त्याग दिया है। घने जंगल में सीता जी को अकेला छोड़ कर लक्ष्मण जी शहर को लौटने की आज्ञा माँग रहे हैं, तब सीता जी के मुँह से सहसा निकल जाता है:—

अहं त्यक्ता त्वया वीर अपयशो भीरुणा जने ।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवाद समुत्थितम् ॥
मया हि परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः ।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥
प्राणै रपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः ।
इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यो मम संग्रहः ॥

[उत्तरकाण्ड, सर्ग ४०, श्लोक १३–१८]

"हे लक्ष्मण ! मेरी तरफ़ से अपने भाई राम को कह दे कि हे वीर ! तूने जनसमूह में फैलने वाले अपयश से डर कर मुझे छोड़ दिया है। खैर, तेरे ऊपर जो अपवाद आया है, उसे दूर करना मेरा कर्तव्य है, क्यों कि तू ही मेरी परमगति है। नारी का तो पति ही देवता है, पति ही बन्धु है, पति ही गुरु है। इस लिये पति का कार्य प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है।"

राजमहल से निकाल कर घने जंगल में भेज दी गयी है; पति से ठुकरायी गयी है। तब भी पति निन्दा का एक शब्द तक नहीं; बल्कि पति भक्ति की ही घोषणा है ! इसका नाम है पति-व्रत ! लेकिन राम ? सीता के पति-व्रता होने मात्र से उनको सन्तोष नहीं था। वे तो पूर्ण रूप से पत्नी के सामने एक उच्च आदर्श रखने में ही व्यस्त रहते थे। राम, सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर जंगल को चले गये हैं। राजा दशरथ पुत्र वियोग व्यथा से स्वर्ग को सिधार गये हैं। भरत अपने मामा के घर से आकर शोक से भरा हुआ सूना महल देखते हैं। माता कैकेयी राजा की मृत्यु और राम के बन गमन की खबर सुनाती है। राम के बन जाने की खबर सुनते ही भरत

चौंक पड़ते हैं और इस शङ्का से कि राम के आचार में कहीं दोष नहीं आया, माता से पूछते हैं:—

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्रूणहेव निवासितः ॥

[अयोध्या काण्ड, सर्ग ७२, श्लोक ४५]

"क्यों, राजपुत्र रामचन्द्र जी परायी स्त्रियों में तो उलझ नहीं गये ? क्या कारण था कि उनको शिशुहत्या करने वाले की तरह दण्डकारण्य भेज दिया गया ?"

इस शङ्का का निवारण कैकयी इन शब्दों में करती है:—

न रामः परदारांश्च अचक्षुर्भ्यामपि पश्यति ।

[अयोध्या काण्ड, सर्ग ७२, श्लोक ४६]

"राम अन्य स्त्रियों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते ।" वह था श्रीरामचन्द्र जी का पत्नी-व्रत । हरेक वैदिक-धर्मी जानता है कि श्रीराम अपनी पत्नी सीता से कितना प्रेम करते थे । उस समय की बात है, जब रावण सीता जी को हर ले गया था । श्रीराम जी आते हैं और खाली कुटिया को देखते हैं । उनके दिल पर बिजली सी पड़ जाती है और वे सीता जी को इधर-उधर ढूंढ़ते पागल की तरह घूमते फिरते हैं । उनके मुंह से ये वाक्य निकल जाते हैं:—

न त्वहं तां बिना सीतां जीवेयं हि कथंचन ॥१७॥
सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रकर्शन ।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥

[अरण्य काण्ड, सर्ग ६२, श्लोक २०]

"हे लक्ष्मण ! मैं किसी भी तरह उस सीता के बिना जी नहीं सकूँगा। हे शत्रु दमनकारी लक्ष्मण ! सीता का यह जो विनाश है, यह मेरा भी विनाश है। मेरी पूज्य माता कौशल्या से यह सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह दो।"

श्रीराम जी सीता जी के नाश को अपना नाश समझते थे। सीता जी के बिना अकेले जीने की कल्पना तक वे नहीं कर सकते थे। इन्हीं राम जी के पत्नी प्रेम का अवलोकन करके, लङ्का के अशोकवन के एक वृक्ष पर बैठे हुए ब्रह्मचारी हनुमान् जी के मुंह से ये शब्द निकले :—

यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत् ।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः ॥

[सुन्दर काण्ड, सर्ग–१६, श्लोक–१३]

"इस एक सीता पर यदि श्रीराम सात समुन्द्रों से सीमित भूमि और सारे विश्व को भी वार दें तो मैं उसे ठीक ही मानूंगा।" इतना ही नहीं, सीता जी से पृथक् श्रीराम जीते भी कैसे हैं, यह सवाल भी हनुमान् जी को सता रहा था :—

दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः ।
धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥

[सुन्दरकाण्ड सर्ग–१६, श्लोक–२७]

"सीता से अलग रह कर भी प्रभु रामचन्द्र जी अपनी आत्मा और देह को साथ साथ रखते हैं, दुःख से मृत्यु-मुख में चले नहीं जाते, यह एक कठिन साधना ही कर रहे हैं।"

हमने इतना लम्बा उद्धरण इसलिये दिया कि माताओं की समझ में यह बात आ जाय कि पति पत्नी के परस्पर प्रेम का स्व-

रूप कहा हैं। पति उपरिकथित मन्त्र से अपने पत्नी व्रत का आश्वासन दे कर, आगे अपनी पत्नी को पति व्रत का भी सुन्दर आदेश देता है। वैदिक विवाह में सप्तपदी विधि का खास महत्व है। सप्तपदी में वह इन मन्त्रों का पाठ करता है :—

इष एक पदी भव सा मामनुव्रता भव

विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान्विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः।

ऊर्जे द्विपदी भव सा मामनुजता भव......

रायस्पोषाय त्रिपदी भव......

मायोभव्याय चतुष्पदी भव ....

प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव......

ऋतुभ्यः षट्पदी भव......

सखा सप्तपदी भव......

इन मन्त्रों को पढ़ते हुए, पति एक २ मन्त्र को एक २ पग आप खुद आगे रखता है और अपनी पत्नी से रखवाता है। पतिव्रत धर्म का एक रोचक चित्र खींचता है। इन मन्त्रों का भावार्थ देखिये :—

"हे सुभगे! मैं अन्नादि की प्राप्ति के लिये आगे चलता हूँ, तू भी अपना पहला पग उठा। अन्नादि की प्राप्ति का जो व्रत मैंने लिया है, तू भी वही व्रत ले। सर्वव्यापक परमात्मा मुझे मेरे साथ ही चलाये। ऐसे पुत्रों को भी पायें, जो कि दीर्घायु हों।"

"प्रिये! बल प्राप्ति के लिये मैं आगे चलता हूँ। तू इस दिशा में दूसरा पग उठा। मेरी अनुयायिनी बन।... ......

"देवि! प्राप्त धन की रक्षा और पुष्टि के लिये मेरे साथ

तू भी तीसरा पग धर। मेरा व्रत ही तेरा व्रत हो।.........."

"हे सौभाग्यवति! आरोग्य लाभ के लिये तू मेरे साथ चौथा पग रख। हम दोनों का एक ही व्रत हो।........."

"हे सुन्दर भावनावति! जन समाज की भलाई के लिये मैं पांचवां पग रखता हूँ। तेरा भी वही व्रत हो।........"

"हे गुणवती! काल नियमानुसार बरत ने के लिये मैं छठा पग रखता हूँ। तू भी मेरा साथ दे। ...... "

"हे सखी! मैं साख्य प्राप्ति के लिये सातवां कदम रखता हूँ। तू मेरी सखी बन। मैत्री के मार्ग में मेरा साथ दे।......"

माताओं ने देख लिया होगा कि इन वाक्यों का कितना महत्व है। पतिव्रत धर्म का संक्षेप में यहां वर्णन कर दिया गया है। पति और पत्नी का एक अभिन्न आर अखण्ड जीवन होता है। पति की मन-वचन और तन से बन कर रहना प्रत्येक पत्नी का प्रथम कर्तव्य है। यही प्रति व्रत धर्म है। इसी धर्म के समुचित पालन से गृहस्थ जीवन आनन्द सागर बन जाता है।

पत्नी का स्थान दासी का स्थान नहीं है, यह हमने ऊपर कह ही दिया है। कोई भी आर्य अपनी पत्नी को दासी नहीं समझता। पत्नी घर में आती है तो रानी बन कर आती है, दासी बन कर नहीं। देखिये, वेद क्या कहता है:—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

[ऋग्वेद, मं०—१०, सू -८५ मं--४६]

"हे कल्याणि! तू ससुर के यहां रानी बन कररह। सास के पास भी रानी बन कर रह। ननाद के साथ रानी

का सा व्यवहार कर। अपने देवरों से भी रानी की तरह पूजा के योग्य बन।" इससे स्पष्ट है कि जो देवियां अपनी पुत्र-बधुओं को दासी समझ कर उनके साथ कठोर व्यवहार करती हैं, वे वेदभगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करती हैं, वैदिक आदर्श से पतित हो जाती हैं। जो पति यह समझता है कि पत्नी का स्थान एक नौकरानी का सा है, वह भी धर्म भ्रष्ट हो जाता है।

लेकिन गृहरानी बनना भी कोई आसान काम नहीं है। सम्राट् शब्द का स्त्रीलिङ्ग सम्राज्ञी है, जिसका प्रयोग उक्त वेदमन्त्र में हुआ है। सम्राट् का मतलब 'सम्यक् राजत इति ऐसा होता है। अच्छी तरह चमकने वाला सम्राट् है। अच्छी तरह चमकने वाली सम्राज्ञी है। गृहपत्नी तो गृह की ज्योति है; खुद चमकती और दूसरों को चमकाती है। यह चमकना क्या है, अपने पवित्र आचारण से, अपने सुन्दर विचारों से और अपनी मधुर-वाणी से घर में सन्तोष और आनन्द की ज्योति उँडेल देना है। रानी बनने का मतलब सास-ससुर, ननांद-देवर आदि पर आतंक बिठाने से नहीं है; न खुद गुलाम बनने से ही है। अपनी जिम्मेवारी को अच्छी तरह समझ कर धर्म-भावना से गृह-सेवा में लगी रहना ही किसी नारी का रानी कहलाना है।

गृहस्थी का आनन्द स्त्री के सौजन्य यानी शराफ़त पर निर्भर है। यदि स्त्री ने अपने कर्तव्यों को तोड़ लिया तो आनन्द ही आनन्द है। इसी लिये वेद कहता है:—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमना सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

[ऋग्वेद, मं-१०, सू-८५, मं-४४]

"हे रानी: तू शान्तदृष्टि वाली और पति का अहित न करने वाली होकर आ। पशुओं के लिए कल्याणकारिणी बन कर आ। सुन्दर मन वाली और अच्छी तेजस्विनी बन कर इस गृह में प्रवेश कर। वीर माता बन। तू अपने देवरों में उत्तम व्यवहार करने वाली होकर आ। सुखकारिणी बन। तेरे कारण हमारे द्विपाद और चतुष्पाद पशुओं को सुख मिले।"

उपर्युक्त मन्त्र में पत्नी के कर्तव्यों की ओर निर्देश है। अगर पत्नी उत्तम स्वभाव वाली और सदाचारिणी है तो अपने पथभ्रष्ट पति को भी सुधार लेती है। क्योंकि माता ही सन्तान की प्रथम और मौलिक गुरु है, इसलिये उसके कंधों पर अपने बच्चे के सामने क्रियात्मक सदाचार का जीता जागता उदाहरण रखने की बहुत ही बड़ी जिम्मेवारी रहती है। अतः माता को अपने आचरण का बहुत ख्याल रखना पड़ता है।

हरेक नारी को बड़े-बूढ़ों और विद्वानों की सेवा, सास-ससुर, पति-जेठ आदि की शुश्रूषा आदि का उच्च आदर्श सामने रख कर अपने जीवन को सफल बनाना चाहिये। इसीसे मातृशक्ति का पूर्ण-विकास होगा और परिवार, समाज और राष्ट्र की सच्ची उन्नति होगी।

———

हस्त कौशल और मातृशक्ति

रचना शक्ति जिसे अंग्रेजी में Crative power कहा जाता है, वैसे तो पुरुषों में भी है; लेकिन, माताओं में जिनको कि समग्र-विश्व की मातायें बनने का अलभ्य सौभाग्य परमात्मा की ओर से प्राप्त है, बहुत अधिक है। मातायें तो बनाने वाली ही होती हैं और बनाती ही चली जाती हैं। उनके हाथ में जहां कोमलता है, वहां कौशल भी है। 'रायस्पोषाय त्रिपदी भव' करके विवाह-मण्डप में पति ने जो कहा, उस आज्ञा या आदेश की पूर्ति में पत्नी का कर्तव्य बहुत अधिक है। 'रायस्पोष' कहते हैं सम्पत्ति और पुष्टि को। पति अपनी योग्यता के अनुसार कमाता ही है, पर कमाई की वृद्धि में पत्नी का भी हिस्सा होना चाहिये। यह रकम भरने के लिए पत्नी को कार्यालयों में नहीं जाना है। गृह-राणी का घर एक ऐसा स्थान है, जो कि एक साथ चिकित्सालय, सेवामन्दिर, यन्त्रालय और गुरुकुल-सन्तकुल है। अपने बचे हुए समय का सदुपयोग करने के लिये माताओं को कोई न कोई दस्तकारी अपनानी चाहिये। वेद भगवान् स्वयं कह रहे हैं:—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ॥

[ऋग्वेद, मण्डल-५ सूक्त-४७, मन्त्र-६]

मातायें अपने पुत्रों के लिए कपड़े बुना करें। उनके

लिये बुद्धियों और सत्कर्मों का विस्तार करें। इस प्रकार करने वाली शुभ्रपथगामिनी देवियां ही अपने बलवान् पतियों को भी प्रसन्न करती हुई उन्नति को प्राप्त होंगी।"

स्पष्ट है कि जो माता अपने बचे समय को कपड़े बुनने जैसी किसी उपयोगी दस्तकारी में लगायेगी, वह अपने बच्चों में सन्मति और सत्कर्म पैदा करेगी और स्वयं ज्योतिष्पथ की यात्रिणी बन कर अपने पति को भी खुश करेगी। निठल्ली न बैठ कर जो माता कुछ न कुछ उपयोगी कार्य करती रहेगी, वह एक साथ तीन उत्तम फल प्राप्त करेगी। एक तो यह कि वह स्वयं अपनी बुद्धि अच्छे काम में लगा कर सन्मार्ग पर आरूढ़ हो जायगी और आलस करने से जो हानियां होंगी उनसे बच जायेगी। दूसरे, वह क्रियात्मक रूप में अपने बच्चों के सामने सेवा और सद्भावना का आदर्श उपस्थित करके, उनको भी उसी आदर्श पर चलने को प्रेरित करेगी। क्योंकि जो बच्चे अपनी प्यारी माँ की बनायी हुई चीजें इस्तेमाल करेंगे वे उन चीजों को एक अजीब ममता या अपनेपन का अनुभव करेंगे और अपनी माता के प्रति मधुर श्रद्धा और प्रेम भाव रखेंगे। तीसरे, पति भी अपनी सहधर्मिणी को परिवार-संचालन में इस तरह क्रियात्मक सहयोग देती हुई पाकर बहुत ही खुश होगा और परिवार को पूर्ण-सुखी बनाने में और भी तत्परता से प्रयत्न करेगा। दस्तकारी में न केवल भौतिक, परन्तु मानसिक तथा आत्मिक विकास और लाभ मौजूद हैं। वेद भगवान् फिर कहते हैं।

तन्तु तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया

कृतान् । अनुल्बणं वयत जोगुवामयो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥

[ऋग्वेद, मंडल—१०, सू०—५३; मंत्र—६]

"हे मनुष्य सूत कातता हुआ उसे रंगीला कर दे । उसे रंगीन बना दे । बुद्धि से बनाये गये प्रकाश के मार्गों की रक्षा कर । गांठ से रहित सुन्दर तागों का कपड़ा बुन । खुद मननशील बन और दैवी प्रजा का उत्पादन कर ।" इस मन्त्र पर ज़रा गम्भीरता से सोचना आवश्यक है । यह मन्त्र कहता है कि हाथ की कारीगरी दस्तकारी प्रकाश का मार्ग । वह मार्ग भी बुद्धि का बनाया हुआ है । दस्तकारी का करना बुद्धू लोगों का काम नहीं है; बुद्धिमानों का है । वह अंधेरे का रास्ता नहीं है, न अंधों का ही रास्ता है, प्रत्युत प्रकाशवान् विद्वानों का है । सुन्दर २ वस्तुओं की उत्पत्ति मूढों का कार्य नहीं है । कोई भी काम तुच्छ नहीं है । ठीक तरीके से किया जाय तो मनुष्य दस्तकारी करते २ 'मनु' अर्थात् मननशील बन जाता है । जब वह खुद मननशील बन जाता है तो दैव्य जन को जन्म देने लायक हो जाता है । इस वाक्य का खुलासा कर देना भी ज़रूरी है ।

मनुष्य का असली स्वरूप मननशील है । मननशीलता आती ही सक्रियता से । आलसी का देह जैसे निष्क्रिय होता है, वैसे उसकी बुद्धि भी मन भी—निष्क्रिय होती है निष्क्रिय बुद्धि में मननशीलता नहीं आ सकती । जो मननशील नहीं हैं, वह नरतन वाला होकर भी मनुष्य नहीं है । मननशील ही मनुष्य की सच्चाई है, मनुष्य का सत्य है । शास्त्रों में कहा है—"सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः ।" जो सत्यवान् मनुष्य हैं, वे ही देव हैं,

असत्यवान् तो मनुष्य ही हैं। उसने कहा था कि मननशीलता ही मनुष्य की सच्चाई है, अतः मननशील मनुष्य ही देव है। देव ही दिव्यजन को पैदा कर सकते हैं। देव कहते हैं दानशील, तेजस्वी सत्यवान् मनुष्य को। ये गुण आते ही मनन से हैं। जो खुद अन्धकारमय है, वह किसी को प्रकाश क्या दे?

इस विवेचना का तात्पर्य यह है कि दस्तकारी मनुष्य की बुद्धि को तेज़ करने वाली है। जो माता दिल लगाकर कताई, बुनाई आदि उपयोगी काम करेगी, वह प्रकाश वाले रास्ते पर चलकर अपने में देवत्व पैदा करेगी। फिर वही देवत्व उसके बच्चों में भी आयेगा। वे दैव्य जन बन जायेंगे। उनमें भी क्रियाशीलता, मननशीलता आदि उत्तम गुण घर करेंगे। इस तरह स्पष्ट है कि कातना बुनना आदि काम, जहां भौतिक दृष्टि से फ़ायदेमन्द हैं, वहां मानसिक और आत्मिक दृष्टि से भी कल्याणकारी हैं। माताओं को जान लेना चाहिये कि पूर्ण जीवन वही है, जिसमें न केवल दिल या दिमाग का ही, बल्कि हाथ का भी उचित स्थान और सन्मान हो। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी उपयोगी कार्य के बारे में यह सोचना ठीक नहीं है कि यह छोटा काम है। छोटा काम अगर दुनियां में कोई है तो वह खोटा काम ही है।

अपनी माता को क्रियावती देखकर सन्तान जितना सीखती है, उतना शायद दुनियाँ भर के विश्वविद्यालयों के स्नातक बन कर भी नहीं सीखती। माता अपने हाथ के बुने कपड़े पहना और अपने ही हाथ की बनी रोटियाँ खिलाकर बच्चे के न केवल शरीर की रक्षा और वृद्धि करती है, प्रत्युत आत्मा का भी विकास कर देती है। उच्चभाव बच्चों में घर कर जाते हैं।

लेकिन आजकल की मातायें फ़ैशन-परस्त बनती जा रही हैं।

अपने हाथ से कपड़ा बुनना, झाड़ू देना, बर्तन मांजना, रसोई बनाना आदि काम करना तो दूर, रसोई घर में नंगे-पांव जाने से भी डरती हैं कि कहीं पाँवों में मैल लग न जाय! उनको यह भी आशङ्का रहती है कि कहीं अपनी रेशमी साड़ियों में कोयले की कालिमा न लग जाये, अपने कोमल हाथों में कहीं कालापन न आ जाय। कुछ मातायें तो अपने बच्चों को खुद दूध तक नहीं पिलाती। दाई या बोतल के दूध पर बच्चे पलते रहेंगे और माता को तो दूर से ही देखते रहेंगे। फिर उन पर असर भी क्या पड़ता होगा? उनके विचार में बोतल ही माता से बढ़ कर कीमती होगी। अरे यह तो साफ़ पतन का रास्ता है। सोलहों आना अवैदिक मार्ग है। हमारी माताओं को इस रास्ते पर चल कर अपने मातृत्व और सन्तान के मनुष्यत्व की हत्या नहीं करनी है। माता और पिता का सन्तानों से केवल दैहिक सम्बन्ध ही नहीं, बल्कि मनुष्यता के नाते कुछ आत्मिक सम्बन्ध भी होता है। मनुष्य की आत्मा, बिना मनुष्यता के घोर अंधकार में पड़ जाती है। मनुष्यता दान ही सब दानों से श्रेष्ठ है। भगवान् मनु ने कहा भी है:—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगो महीवासस्तिलकांचन सर्पिषाम् ॥

[मनुस्मृति—अध्याय--४, श्लोक—२२३.]

"पानी, भोजन, गाय, ज़मीन, कपड़ा, तिल सोना घी आदि सब दानों में ब्रह्मदान ही सब से बड़ा है।" हमने पहले लिखा ही है कि ब्रह्म कहते हैं ज्ञान को। यह भी सिद्ध है कि बिना ज्ञान के मनुष्य पशु ही हैं, जैसे कि कहा भी है—" ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः "--अज्ञानी तो पशुओं के बराबर है। इस से

सिद्ध हुआ कि ज्ञानयुक्त ही मनुष्य है और मनुष्यता ही ज्ञान है या ज्ञान ही मनुष्यता ही है। इसलिये मनुष्यता दान ही ब्रह्मदान है, जोकि सबसे उत्तम दान है। माता का अपने बच्चों में मनुष्यता पैदा करना ही उसका अपने पुत्रों को मनुष्यता दान देना है। यह मनुष्यता तो सन्तान में माता के आचार-व्यवहार अर्थात् क्रियात्मक जीवन से आती है। इसलिये सफल माता बनने की इच्छा रखने वाली माता को सारे गृह—कार्य एवं शक्त्यनुसार दस्तकारियाँ भी अपने हाथ से करके, सन्तानों के सामने मनुष्यता का उच्च आदर्श रखना चाहिये।

हम अपनी माताओं से प्रार्थना करते हैं कि इन बातों पर ध्यान देकर अपनी तथा अपनी सन्तानों की शक्तियों का विकास करें।

—— ——

यज्ञ-भावना और मातृ-शक्ति

माताओं के सफल जीवन की प्राप्ति के लिए और एक भावना, जो न, केवल आवश्यक बल्कि अनिवार्य है, वर यज्ञ की भावना है। वैदिक साहित्य में सबसे अधिक प्रभावशाली शब्द आर्य है, तो उसकी बराबरी कर सकने वाला शब्द निस्सन्देह यज्ञ है। यज्ञ का यशोगान शास्त्रों में विस्तृत रूप में किया गया है। हम वेद भगवान् के ही शब्दों में यज्ञ की महिमा प्रकट करना उचित समझते हैं—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्रपूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

[यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र–१६]

"विद्वान् लोग यज्ञ के द्वारा यजनीय परमात्मा की पूजा करते हैं। वे ही प्रथम धर्म हैं। वे महिमावान् विद्वान् सचमुच सुख को पाते हैं। वह सुख भी ऐसा है जिसमें सारे ही प्राचीन साधनसम्पन्न विद्वान् आनन्द से रहते हैं।"

यह तो शब्दार्थ हुआ। अब कुछ गहराई से सोचना है। इस मन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् लोग यज्ञ द्वारा यज्ञका यज्ञ करते हैं। यहाँ साधन भी यज्ञ है, साध्य भी यज्ञ है और क्रिया भी यज्ञ है। साध्य तो परमात्मा है। कहा भी गया है-'यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् विष्णु ही यज्ञ है। 'विशति सर्वं व्याप्नोतीति विष्णुः'–परमात्मा सर्वव्यापक होने से उसका नाम विष्णु है। महर्षि दयानन्द कहते हैं कि यजणीय अर्थात पूजीई होने से

परमात्मा यज्ञ है। उस पूजनीय परमात्मा की पूजा देव लोग कैसे करते हैं ? उत्तर दिया गया है, यज्ञ से। यहाँ यज्ञ साधन है। इस यज्ञ का स्वरूप क्या है ?यजुर्वेद खुद कहता है–"यज्ञं श्रेष्ठतमं कर्म।" उत्तमोत्तम कर्म का नाम यज्ञ है। यज्ञ शब्द यज् धातु से बनता है। यज् धातु के 'देवपूजा संगतिकरण और दान, ये तीन अर्थ दिये गये हैं। अब इन पर विचार करना चाहिये।

१. देव पूजा

देव कहते हैं सत्यमय विद्वान् महात्माओं और प्रकाशवान् शक्तिमान् वस्तुओं को। "अग्निर्देवता वातो देवता आदि शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। इनकी पूजा अर्थात् सत्कार करना देव पूजा है। चेतन महात्माओं का सत्कार क्या है, यह तो आसानी से समझ में आ जाता है। अग्नि-वायु, सूर्य, चन्द्र आदि जड तत्वों का सत्कार क्या है ? सत् कहते हैं सत्य को। उनको सत्य करना ही उनका सत्कार है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आँखों में देखने की शक्ति है। आँखों के अस्तित्व का ज्ञान ही उसके देखने की शक्ति से प्राप्त होता है। जो आँखें रख कर भी नहीं देखता है, वह उसके सत्य को जाहिर नहीं करता हैं। वह आँखों वाला होकर भी अंधा है, क्योंकि वह उनकी सत्ता को अस्वीकार कर रहा है। परन्तु जो उनसे ठीक काम लेता है, वह उनको सच्चा बना रहा है, उनका सत्कार कर रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुओं का यथायोग्य उपयोग ही उनका सत्कार है। तो आग, हवा, पानी वगैरह चीजों से उचित लाभ उठाना ही उनका सत्कार है, उनकी पूजा है। मतलब यह निकला कि विद्वान् महात्माओं का सत्कार करके उनसे ज्ञान प्राप्त करना और हवा, पानी आदि को अग्निहोत्र

द्वारा शुद्ध करके इनसे लाभ उठाना, अग्नि से और जल से भी यन्त्रादि का संचालन करके जनता के लिये सुख प्राप्त करना देव पूजा है। यह यज्ञ का पहला अङ्ग है।

२. संङ्गतिकरण

सङ्गतिकरण का शब्दार्थ है अलग २ रहने वालों को इकट्ठा करना। एकता के सूत्र में बांध कर अनेकों में एकीभाव पैदा करना। उपनिषदों की भाषा में यह एकत्व ही शोक और मोह का निवारक है। ईशावास्य में कहा गया है:—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

[ईशावास्य-मन्त्र ७]

इसका भावार्थ यह है कि जो विद्वान् महात्मा प्राणी-मात्र को अपनी आत्मा ही मान लेता है, उस एकतादर्शी महानुभाव के लिए न शोक होता है, न मोह। संसार में आज कितने झगड़े होते हैं, उन सब के मूल में यही अनेकता का भाव है। उपनिषदों में अन्यत्र कहा गया है-"द्वितीयाद्वै भय भवति।"-दूसरे से भय होता है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है। जो सिद्धान्त आजकल अद्वैत के नाम से प्रचलित हैं, उसका वेदों में नामोनिशान तक नहीं है। चाहे वह प्रकृति-पुरुषैक्यवाद हो, चाहे चेतनैक्य वाद, पूरा पूरा अवैदिक है। वेदों में "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः--" "विश्वे अमृता अमूराः"—आदि बहुबचन प्रयोग हैं और जीवत्माओं को अलग,२ ही मान कर उनको 'अमृत' याने 'नित्य' कहा गया है। नित्य वे ही पदार्थ हैं जिनकी न आदि है, न अन्त। प्रत्येक जीवात्मा अपनी स्वतन्त्र

नित्य सत्ता रखता है। इसलिये जीवात्माओं का स्वरूप से एक हो जाना असम्भव है। यह सिद्ध है कि यह एकता स्वरूपाश्रित नहीं है, भावनाश्रित है। अपने को औरों जैसे और औरों को अपने जैसे समझना और इसके अनुकूल व्यवहार करना, यही सच्ची एकता है। महर्षि दयानन्द ने इस एकता की सुन्दर व्याख्या यों की है कि सबके सुख में अपना सुख और सब के दुःख में अपना दुःख देखना ही एकता है। यदि हम औरों को अपने जैसा नहीं समझेंगे, औरों के सुख दुःखों का ख्याल न करके अपने सुख-दुःखों के झमेलों में उलझे रहेंगे, तो वे और हमारे लिये दूसरे हो जायेंगे, वे हमारे लिये 'एक' नहीं रहेंगे। दूसरों से तो भय होना ही है। संसार की तो क्या कहें, हम अपने प्यारे आर्यावर्त में भी एकता नहीं ला सके। आर्य 'कई सम्प्रदायों में बँट गये हैं, यहाँ तो ब्राह्मण-अब्राह्मण, सवर्ण-हरिजन आदि का रोना ही रोया जाता है, एकता को कोई भूल कर भी याद नहीं करता। सबसे प्रेमपूर्वक मेल-जोल कायम करना ज्ञानियों से सत्सङ्ग करना और द्वेषभाव से मन-वचन-काय से निवृत्त हो जाना, मनुष्य-मात्र, बल्कि जीवमात्र को अपना समझ कर बर्तना—यही सङ्गतिकरण है। वेद कितने सुन्दर शब्दों में कह रहा है:—

दृते दृंह मा मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजुर्वेद, अध्याय-३६, मन्त्र-१८.)

"हे परम कारुणिक प्रभो ! कृपा करो। सारे ही प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखा करें। मैं भी प्राणिमात्रों को मित्रदृष्टि से देखा

करूं। हम परस्पर एक दूसरे को मित्रदृष्टि से देखा करें।" सङ्गतिकरण का यही आदर्श है। अगर मानव-समाज ने इसे कार्यगत किया तो दुःख के लिये जगह कहां रहेगी?

३. दान:—

यह यज का तीसरा अङ्ग है। मनुष्यता के साथ दान का सम्बन्ध है। पशु पक्षी आदि की तो कर्म-योनि नहीं है, भोग-योनि है। अपने किये का फल भोगना ही वे जानते हैं आगे के लिए कुछ करना नहीं जानते, क्योंकि उनमें विवेक बुद्धि नहीं है। लेकिन मनुष्य माननशील है। पृथ्वी को स्वर्ग या नरक बनाने में इसका बड़ा हाथ है। सोच समझ कर काम करने की इस में ताकत है। इससे मनुष्य की जिम्मेवारी भी बहुत बढ़ जाती है। मनुष्य की कर्म-योनि है, जहाँ पशु पक्षियों से प्रारब्ध और संचित कर्मों का ही सम्बन्ध है, वहाँ मनुष्य से इन दोनों के अतिरिक्त क्रियमाण कर्मों का भी सम्बन्ध है। क्रियमाण कर्म उन्हीं को कहते हैं जो अब किये जाते हैं और जिनका फल आगे मिलता है। इसलिये, मनुष्य अपने जीवन में अपना ही खास स्थान रखता है। उसे अपनी करनी पर बहुत ध्यान देना है। कोई पशु यदि हम से कुछ लेता है तो लेता ही है, बदले में कुछ दे या न दे, उसका उसकी आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन मनुष्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मनुष्य विचारशील है, इसलिये उसके मत और उसी के द्वारा आत्मा पर हरेक व्यवहार का प्रभाव पड़ता है, जो वासना रूप बन कर आत्मा में रहता है। व्यवहार का मतलब ही देना और लेना होता है। मनुष्य जब अपने लिये कुछ लेता है तो कुछ देना भी उसका कर्तव्य हो जाता है। हरेक

मनुष्य अपने माता-पिता से शरीर, पालन-पोषण पाता है, आचार्य से ज्ञान पाता है, समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से अनेक प्रकार की सुविधायें पाता है, राज्य से रक्षा पाता है। इतने सुभीतों के बदले उसे अपने माता-पिताओं, गुरूजनों, समाज और राष्ट्र के लिए भी कुछ देना होता है। यदि मनुष्यत्व की रक्षा होती है, तो जहां लेना है, वहां देन भी होनी चाहिये। नहीं तो आत्मा अन्यों के ऋण-भार से दबती चली जायगी और उभरना असंभव हो जायगा। वेद भगवान् की आज्ञा देखिये :—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारन्निहराणि ते स्वाहा॥

(यजुर्वेद, अध्याय-३, मन्त्र-५०)

'तू मुझे दे, मैं तुझे दूं। मुझ से तू ले, मैं तुझ से लूं। मुझ से तू खरीद, मैं तुझ से खरीदूं। यह हमारी लेन-देन का व्यवहार सत्य मय हो।"

स्पष्ट है कि मनुष्य जब दूसरों से लेता है तो उसे दूसरों को कुछ देना भी पड़ता है। परन्तु. दिया हुआ सब कुछ दान नहीं कहलाता। हम घड़ी का मूल्य लेकर घड़ी किसी को दे दें तो वह दान नहीं होता। वह तो व्यवहार कहलाता है। जैसे कि हम ऊपर कह आये हैं, अपनी आत्मा का अनृण बनाने के लिए कुछ देना ही दान है। विद्वानों ने दान की व्याख्यायें की हैं 'स्वयेच्छया बिना प्रतिफलेच्छया च स्वस्य वस्तुनः स्वामित्व परित्यागो दानम्।' इस का अर्थ यह है कि अपनी इच्छा से प्रति फल या बदले की आशा न कर के अपनी वस्तु पर से स्वामित्व को त्याग देना ही दान

है। और दान में एक और बात की प्रधानता होती है। वह है लेने वाले की पात्रता। लेने वाला यदि अपात्र है तो दान भलाई के बदले बुराई पैदा कर देता है। अतः दान पात्र को ही दिया जाना चाहिये। जैसे कि हम पहले भी लिख चुके हैं, दान कई वस्तुओं के हो सकते हैं। तो संक्षेप में आदरणीयों का आदर-सत्कार और अग्निहोत्रादि कार्य, एकता सम्पादन और दान–ये तीनों यज्ञ के अङ्ग हैं। श्रीकृष्ण ने भी भगवद्गीता में यज्ञ की बड़ी महिमा गायी है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
[गीता अध्याय-३, श्लोक—१०-११]

इस का अर्थ यह हैं–"प्रजापति परमात्मा ने यज्ञ के साथ ही प्रजाओं का उत्पादन करके कहा कि इससे उत्पन्न कर लिया करो। तुम्हारे लिये यह कामधुक अर्थात् इच्छितार्थ को देने वाला हो इसी यज्ञ से तुम देवों को खुश करो। वे देव तुम्हें प्रसन्न करें। इस प्रकार एक दूसरे को खुश करते हुए परमश्रेय को प्राप्त करो।" सचमुच देव पूजा, सङ्गतिकरण और दान ऐसे ही उत्तम गुण हैं कि उनमें सब को प्रसन्न करने की ताकत है। इस लिए बिना यज्ञ के जीने में कोई आनन्द नहीं है। इसी लिये एक कदम आगे जाकर श्रीकृष्ण ने कह ही दिया:—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविताः।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
[गीता, अध्याय-३; श्लोक- १२]

"देव ऐसे हैं कि यज्ञ से सम्मानित होकर इच्छित भोग प्रदान करते हैं। उनसे दिये गएउन भोगों को इन प्रजाओं को न देकर जो खाता है, वह चोर ही है।" परमार्थ-जीवन ही यज्ञ जीवन है और स्वार्थ-जीवन ही चोर का जीवन है।

इससे प्रकट हो जाता है कि परोपकार ही यज्ञ की आत्मा है। इतनी व्याख्या के बाद, यह कहना कि माता को यज्ञ रूप होना चाहिये, अत्युक्ति नहीं है ? माता ही मनुष्य जीवन का स्रोत है। इसी से स्रोत में यदि शुद्ध यज्ञभावना से का पवित्र जल है तो उस मनुष्य का सारा जीवन उसी पवित्र जल से अप्लावित और सिंचित होकर सरस और पावन बन जायगा।

अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी आदि भूत निरन्तर यज्ञ कर रहे हैं। वे अपने लिये कुछ नहीं करते, सब औरों के लिये करते हैं। सूर्य अपने लिये नहीं चमकता, पहाड़ अपने लिये बादलों को नहीं रोकते, बादल अपने लिये नहीं बरसते, नदी अपने लिये नहीं बढ़ती। परमात्मा अपने लिए जगद्रचना जगद्रक्षा और जगतप्रलय नहीं करते। सृष्टि में जिधर देखो उधर परोपकार की ही धुन है; जिधर देखो उधर महायज्ञ की बृहद्योजना है। ऐसी अवस्था में, स्वार्थी बन कर रहना किसी मनुष्य के लिए ठीक नहीं। फिर मनुष्य माता का तो कहना ही क्या ? फिर एक बार गीता की आवाज सुनियेः--

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

[गीता, अध्याय-३, श्लोक-१३]

"यज्ञ करने के बाद बचे हुए को खाने वाले महान् आत्मा सारे पापों से छूट जाते हैं। जो पापात्मा अपने लिये रसोई पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं।" स्वार्थी जीवन की निन्दा इससे अधिक कोई क्या कर सकता है?

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोन्य कुरुसत्तम ॥

[गीता, अध्याय-४, श्लोक ३१]

"यज्ञ शेष अमृत के समान है। उसे खाने वाले नित्य परमात्मा को पाते हैं। जो यज्ञ नहीं करता, वह इस लोक में ही सुखी नहीं होता तो परलोक की क्या कहें, अर्जुन?"

वास्तव में यज्ञ ही जीवन की ज्योति है। यज्ञ ही जीवन का प्राण है। बिना यज्ञ के जीवन भारस्वरूप है; अन्धकारमय है। इसी लिए वेद भगवान् ने यज्ञ को प्रथम धर्म कहा है। स्वार्थी बन कर तो कौआ भी जीता है, भेड़िया भी जीता है। पर उस जीने में आनन्द ही क्या है? उस जीने में न रस है, न स्वाद। यज्ञ ही हमारा प्रथम धर्म है। भाई, न पिता, न माता, न भ्राता, न भगिनी, न पति, न पत्नी हमारे साथ आती है। सुनो, मनुमहाराज क्या कहते हैं:—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठ समं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

[मनुस्मृति, अध्याय ९, श्लोक ५]

"मुर्दे को लकड़ी और ढेले की तरह जमीन में छोड़ कर, सारे रिश्तेदार मुंह मोड़ कर श्मशान से वापिस चले आते हैं। एक धर्म ही है जो उसके साथ जाता है।"

इस लिये प्रत्येक माता को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिये, ताकि सन्तान पर भी उसका सत्प्रभाव बराबर पड़ता रहे। माता को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि जैसे सृष्टि में है वैसे ही शरीर में है। शास्त्रों में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन है, मूर्त और अमूर्त। यद्यपि परमात्मा सर्वथा निराकार है, अलङ्कारमय भाषा में विश्व को उसका शरीर कहा गया है। इस ब्रह्माण्ड शरीर में एक बृहयज्ञ चल रहा है; वैसे ही मानव-शरीर में भी यज्ञ चल रहा है। ऋग्वेद में परमात्मा को 'होता' अर्थात् यज्ञ-कर्ता कहा गया है। इसी तरह, इस शरीर में जीवात्मा होता है। माता का कर्तव्य है कि अपने बच्चों में इस होतृत्व की भावना को उद्दीप्त करे और उनके जीवन को यज्ञमय, परोपकारमय बना देवे।

यज्ञिय बनना क्या है? मन, वचन और तन से अपने को पवित्र बना लेना ही अपने को यज्ञिय या यज्ञमय बनाना है। खास कर के, एक गृहस्थ को यज्ञमय बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि, ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थी और सन्यासी एक सफल गृहस्थ के सहारे ही अपने २ आश्रमों की मर्यादा कायम रख सकते हैं। जहाँ गृहस्थ जीवन खराब हुआ, वहाँ तीनों आश्रम अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। और गृहस्थाश्रम का चारु संचालन तो माता का ही काम है। इसलिये हम माताओं से प्रार्थना करते हैं कि वे पवित्र संकल्प वाली हो जायं और अपने परिवारों को पूर्णतया वैदिक और यज्ञमय बना दें। वे ही सुधार स्थिर और ध्रुव होते हैं, जिन्हें नारी जाति अपनाती है। पुरुष प्राणरूप हैं और स्त्रियां रयिरूप हैं। प्राण और रयि का समुचित संयोग से ही यज्ञ होता है। जैसे कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, पुरुष को बनाने वाली भी स्त्री ही है, मातृशक्ति ही है। अतः माताओं को अपना महत्व समझ कर, जगत् को

स्वर्ग बनाने की कोशिश करनी चाहिये। क्यों कि आज दुनियां घोर पतन की अवस्था में है। मनुष्य में यज्ञ भावना तिलभर भी नहीं रह गयी है। यज्ञ भावना से रहित मनुष्य केवल शरीर से मनुष्य बना रहता है, परन्तु वास्तव में पशु ही बना रहता है। बल्कि पशु से भी बदतर। आज मनुष्य की यही हालत है। सभी जगह सबल निर्बल को कुचल रहे हैं। धनी दरिद्रों के खून को चूस रहे हैं। जहाँ देखो वहाँ नृशंसता का नंगा नाच है। जिधर देखो, उधर राक्षसता का अट्टहास है। इसी तरह मनुष्य अपनी मनुष्यता से गिरता रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब कि सारा जगत् एक विशाल शमशान बन जायगा और सभ्यता, संस्कृति आदि मनुष्य की अनमोल संपत्तियाँ अतीत के स्मरण-मात्र रह जायँगी। अगर कोई शक्ति मनुष्य को इस पूर्ण मृत्यु के मुख से बचा सकती हैं तो वह मातृशक्ति ही है। देखो विश्व-कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर क्या कहते हैं:—

" Do you dare to say, Might is Right and that you have learnt this lesson from the west ? Long ago, in Ancient India, one of our greatest writers said-"By unrighteousness, men may prosper, gain their desires, but they perish at the root. What shall it profit a man, if he shall gain the whole world and loses his own soul or what shall a man give in exchange for his soul ?"

इन वाक्यों का भावार्थ यह है--"क्या तुम यह कहने का साहस कर सकते हो कि शक्ति ही न्याय है और तुमने इस पाठको पश्चिमी देशों से सीखा ? प्राचीन काल में, प्राचीन भारत के श्रेष्टतम लेखकों में से एक ने कहा था कि मनुष्य अन्याय से फल-फूल सकते हैं, अपनी कामनाओं को पूरा कर सकते हैं,

किन्ज जड़ से ही उखड़ जाते हैं। मनुष्य को क्या लाभ है, यदि उसने सारी दुनिया तो जीत ली पर अपनी आत्मा ही खोली अथवा मनुष्य अपनी आत्मा के बदले क्या दे सकता है?"

इन दर्दभरे शब्दों को विश्व कवि ने चीन में कहा था। लेकिन आज मनुष्य अपनी आत्मा की कौड़ी पर भी कीमत नहीं समझता। भारत के वर्तमान युग के उज्वल दार्शनिक श्री सर्व पल्ली राधाकृष्णन् ने, संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के शैणिक वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विभाग के मुख्य भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से ये शब्द कहे थे :--

The Modern man is a victim of his education. We have become slaves, accepting whatever our governments asks us to accept. This world is faced with spiritual blindness and spiritnal disintegra-tion. When a nation ostentatiously turns away from God and concentrates on worldly success and prosperity, it meets with its doom. What is essential today, is not so much the Rehabili tation of school and Libraries or shops and factories as the Rehabilitation of man. We must recreate man, if we are to recreate a New world. Commuuity."

" आधुनिक मनुष्य अपनी शिक्षा का शिकार बना हुआ है। हमारी सरकारें जो भी स्वीकार करने को कहती हैं, स्वीकार करते करते हम गुलाम बन गये हैं। आज दुनिया के सामने आध्यात्मिक अन्धता और आध्यात्मिक विच्छिन्नता मुंह खोल खड़ी हैं। जब कोई राष्ट्र धूमधाम से ईश्वर से मुंह फेर लेता है और ऐहिक सफलता और उन्नति पर ही ध्यान देता

है, तब उसका पतन सामने आ जाता है। आज जिस चीज की आवश्यकता है, वह पाठशालाओं और पुस्तकालयों दूकानों और कारखानों का पुनर्निमाण नहीं है परन्तु मनुष्य का ही पुनर्निमाण है यदि हमें एक नवीन विश्व समाज बनाना है तो हमें नये सिरे से मनुष्य को बनाना होगा।"

शब्द बिल्कुल स्पष्ट हैं और वास्तविकता को लिये हुए हैं, हकीकत से लिपटे हुए हैं। मनुष्यों का पुनर्निर्माण तो माता का ही काम है। और मातृशक्ति अब भी सुप्त ही पड़ी रही, जग कर काम में न लगी तो सर्वनाशकारी प्रलय के सिवा जगत् के सामने और कुछ नहीं है। इसलिए माताओ! जागो! अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करो। सारी दुनियां को अपनाओ और उस पर प्रेममय अमृत वर्षा बरसाओ। तुम्हारे लिये वेद भगवान् की यह आज्ञा है:—

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान्गच्छ गृह पत्नी यथासो दीर्घंत आयु.सविता कृणोतु॥

[अथर्व, काण्ड–३, सू–२, नं–७५]

"हे नारी! अच्छी बुद्धिवाली हो कर तू जाग। सौ वर्षों के लम्बे जीवन के लिए तू उठ खड़ी हो जा। गृहों की रक्षिका बन कर तू घरों में जा। उत्पादक देव तेरी आयु को लम्बी बनायें।

माताओ! यह ठीक है कि तुम्हारी जिम्मेवारियां बड़ी हैं। लेकिन इतना तो ख्याल करो कि यदि तुमने उन जिम्मेवारियों से भय खाया तो तीनों लोकों में ऐसी कोई ताकत नहीं जो उन्हें सफलतापूर्वक सँभाल सके। देखो, भगवती श्रुति क्या कहती है:—

गृहा मा बिभित मा वेपध्वं ऊर्ज बिभ्रत एमसि।
ऊर्ज विभ्रद्वः सुमना सुमेधा गृहानैनि मनसा मोदमानः ॥
[यजुर्वेद, अध्याय-३, मन्त्र-३०]

"हे गृहस्थो ! हे दम्पतियो ! डरो नहीं। काँपो मत। तुम अन्न, पराक्रम आदि से युक्त हो। मैं मन से खुश हो कर अन्न और पराक्रम को धारण करके, उत्तम विचार वाला, बुद्धिमान बन कर तुम्हारे घरों में आता हूँ।"

पूजनीय आचार्य इस प्रकार नवदम्पतियों को वेद मन्त्र द्वारा कह रहा है। उत्तरदातृत्व से घबड़ाना नहीं चाहिये गृहस्थाश्रम, जैसे कि पहले भी कहा जा चुका है, सब आश्रमों का आश्रय स्थान है और उसकी अधिष्ठाजी देवी माता है, नारी जाति है।

सब शुभ, कल्याण और उन्नति के स्रोतः स्वरूप मातृशक्ति को नमस्कार हो, बारम्बार नमस्कार हो।

॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥